

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक संपादक
प्रो. गिरीश्वर मिश्र

संपादक
अशोक मिश्र



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 41 (अप्रैल-जून- 2014) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

सहायक संपादक- अमित विश्वास

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : रामप्रसाद कुमरे, ईमेल- ram.kumre81@gmail.com

फोन : 07152-232943, मो. 08055916194, 09406546762

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटेर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

email : ruchikaprinters2005@gmail.com

श्रद्धांजलि

- प्रख्यात कथा शिल्पी अमरकांत
- समाज विज्ञानी पूरनचंद्र जोशी
- बुजुर्ग पत्रकार खुशवंत सिंह
- कन्नड़ कथाकार विनोबा चित्तल
- विश्व प्रसिद्ध कथाकार ग्राबिएल गार्सिया मार्केस
- कथाकार और कवयित्री ज्योत्सना मिलन
- सुप्रसिद्ध अनुवादक एन.ई. विश्वनाथ अय्यर

इन सभी दिवंगत विभूतियों को महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा एवं बहुवचन परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि

लेखकों से अनुरोध

- ◆ वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- ◆ लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- ◆ भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनिकोड/मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।
- ◆ चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- ◆ रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- ◆ लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख bahuvachan.wardha@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

मो. नं.- 09422386554

अनुक्रम

आरंभिक		
पुस्तक मेला के निहितार्थ		7
वैचारिकी		
आलोचना की जातीय स्वाधीनता		09
	<i>शंभुनाथ</i>	
रवीन्द्रनाथ : हिंदी अध्ययन की संभावनाएं		16
	<i>रामशंकर द्विवेदी</i>	
बदलाव का सामना		23
	<i>के. हरिहरन</i>	
1857 का विद्रोह : राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष		28
	<i>परिमल प्रियदर्शी</i>	
साक्षात्कार		
हिंदी आलोचना पश्चिमी चिंतकों का उपनिवेश बन गई है		35
	<i>विजय बहादुर सिंह से कमलेश भट्ट 'कमल' की बातचीत</i>	
स्मृति		
हमारे ताऊजी अमरकांत		47
	<i>प्रतुल जोशी</i>	
विद्रोह और यातना का कवि नामदेव ढसाल		50
	<i>राजेंद्र मुंढे</i>	
व्याख्यान		
हम और हमारे पड़ोसी राष्ट्र		54
	<i>मुचकुंद दुबे</i>	
कहानी		
हांडी भरी यातना		70
	<i>शोभनाथ शुक्ल</i>	
ऑल इज नॉट वेल		82
	<i>हसन जमाल</i>	
यात्रा-वृत्तांत		
तुरुक से तुर्की तक		87
	<i>दीपक मलिक</i>	

संस्मरण		
	‘रुस्वा’ की यादों में तवारीख का एक अहम पन्ना	92
	सुधीर विद्यार्थी	
	भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का भाषण	97
	गोपालराम ‘गहमरी’	
कविता		
	विष्णुचंद्र शर्मा	101
	ए अरविंदाक्षन	104
	मजीद अहमद	115
	भरत तिवारी	118
भाषांतर		
	हाईची सूजीयामा	123
	ईवा लिप्सका	
	डेनियल खार्मस	
	चार्ल्स बादलेयर	
	ब्रेंडन कैनेली	
स्त्री विमर्श		
	स्त्री लेखन के प्रतिरोधी तेवर	128
	जयनंदन	
पुनर्पाठ		
	फिर से प्रेमचंद	135
	सुवास कुमार	
मीडिया		
	कौन हर ले गया हमारे जनसरोकार	143
	अरुण कुमार त्रिपाठी	
बात बोलेगी		
	काशी	152
	संजीव	

पुस्तक मेला के निहितार्थ

फरवरी 2014 में नेशनल बुक ट्रस्ट के सौजन्य से नई दिल्ली के प्रगति मैदान में आयोजित विश्व पुस्तक मेला में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के प्रकाशन विभाग के स्टाल का प्रतिनिधित्व करने का मौका मिला। पिछले दो दशकों से इस मेले को नजदीक से देखने और समझने का मौका राजधानी में रहने के चलते मिलता रहा है। इन दिनों दिल्ली छोड़कर वर्धा रहने के बावजूद विश्व पुस्तक मेला के प्रति आकर्षण कम नहीं हुआ है। मेले की एक बड़ी सफलता तो यह है कि यह कम से कम साल में एक बार हिंदी भाषा और साहित्य के पाठकों को अपनी पसंद की किताबें मुहैया कराने और हिंदी साहित्य के समकालीन सृजन परिदृश्य को विस्तार देने की दिशा में सार्थक हस्तक्षेप करता रहा है। वैसे भी ऐसे समय में जब इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों की जगर-मगर में विचारों की आंच धीमी पड़ रही हो तो इस विश्व पुस्तक मेला का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। पिछले कुछ बरसों से मेला हिंदी के लेखकों को लगातार पाठकों के एक बड़े बाजार के बीच खड़े होकर अपनी किताबों के बारे में बोलने और जुड़ने का मौका देता है। मेले में आम पाठकों के बीच इस बात पर भी चर्चा रही कि लेखक को लिखने के साथ मेले में चाक-चौबंद दिखना भी जरूरी है इसीलिए हिंदी के कई साहित्यकार लगातार इस या उस स्टाल पर हो रहे अनवरत लोकार्पणों में अपनी उपस्थिति बनाए रहे। एक और नजारा यह देखने को मिला कि मेला आयोजक संस्था नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा संचालित लेखक मंच का अधिकांश समय फेसबुक पर सक्रिय हल्के-फुल्के किस्म का लेखन करने वाले कलमकारों ने अपनी पुस्तकों के लोकार्पण या चर्चा के लिए आर्बित करा लिया जबकि कई खांटी साहित्यकार इधर-उधर घूमते रहे। साहित्य के लिए प्रतिबद्ध नामचीन साहित्यकारों को लेखक मंच पर कार्यक्रमों के लिए समय ही नहीं मिल सका जबकि मंच कई अज्ञात कुलशील वाले लेखकों द्वारा कब्जा लिया गया। भविष्य में लेखक मंच का दुरुपयोग न किया जा सके और अगले पुस्तक मेले में यह मंच विमर्श का केंद्र बने इसका ध्यान नेशनल बुक ट्रस्ट के आयोजकों को रखना चाहिए।

पुस्तक मेला में लगभग सात दिनों तक लगातार लेखकों से बहुवचन के लिए रचना संबंधी याचना, मिलने-जुलने और गपियाने का भी मौका रहा। पुस्तक मेले में आए कुछ युवा साथियों का कहना था कि आज ऐसा साहित्य नहीं लिखा जा रहा है जो हमारे मन और समाज पर कोई खास असर छोड़ सके। एक और बड़ा सवाल है कि हमारा खाया-पिया अघाया मध्यवर्ग पिकनिक मनाने के जिस अंदाज में सपरिवार मेला घूमने आता है तो क्या उसके एजेंडे में किताब खरीदना शामिल होता है? सौ-डेढ़ सौ रुपए का एक प्लेट पिज्जा तो यह वर्ग आसानी से आर्डर दे देता है लेकिन सौ रुपए की एक किताब उसे मंहगी लगती है। उनकी प्राथमिकता में कार और मंहगे सेलफोन, आईपैड खरीदना तो है लेकिन किताब खरीदना नहीं। जाहिर है कि जब तक इस मानसिकता में परिवर्तन नहीं आता तब तक किताबों की बिक्री सामान्य ही रहेगी। पाठकों की एक सामान्य शिकायत यह भी है कि हिंदी के अधिकांश प्रकाशकों द्वारा किताबें सिर्फ सरकारी खरीद के लिए छपी जाती हैं। खरीद में खपने के बाद ये किताबें पुस्तकालय की शोभा बढ़ाती हैं या फिर कभी-कभार

शोधार्थी इन्हें उलटते पलटते नजर आते हैं। मेले में पाठकों की रुझान साहित्येतर किताबों की ओर ही अधिक रही या ऐसी किताबें जो उन्हें रोजी-रोजगार की तलाश में मददगार हो सकें। हिंदी के एक बड़े प्रकाशक ने बातचीत के दौरान यह भी कहा कि हम नई पुस्तकों छाप जरूर रहे हैं लेकिन कटु सच्चाई तो यह है कि हिंदी में स्तरीय लेखन बहुत कम हो रहा है जो पाठकों को खींचकर किताबों तक ला सके। पुस्तक मेला में बहुतेरी मुलाकातें और खट्टे मीठे अनुभव हुए लेकिन उन पर फिर कभी।

पुस्तक मेला के दौरान ही फैजाबाद से कवि मित्र अनिल सिंह के एसएमएस से पता चला कि हिंदी के लोकप्रिय कथाकार अमरकांत नहीं रहे। हिंदी कथा साहित्य की दुनिया को अपनी कहानियों से समृद्ध करने में उनका अप्रतिम योगदान रहा। पूरे नौ दिन के विश्व पुस्तक मेला के दौरान किसी भी कार्यक्रम में उनको श्रद्धांजलि न दिया जाना मुझे दुखद लगा। ऐसा लगता है कि हिंदीभाषी समाज अपने लेखकों को भूलता जा रहा है। साहित्य की दुनिया लगातार सिकुड़ रही है या उसे मूल्यपरक बनाने की दिशा में काम किया जाना चाहिए इस पर विचार किए जाने की जरूरत है।

पिछले तीन बरसों से लगातार जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल खासी लोकप्रियता अर्जित कर रहा है। मेरा मानना है कि इस पूरे आयोजन पर अंग्रेजी की छाप अधिक हिंदी की कम दिखती है। इस आयोजन की देखादेखी लखनऊ और पटना में भी इसकी शुरुआत हो चुकी है। क्या आने वाले दिनों में साहित्यिक आयोजन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के द्वारा प्रायोजित किए जाएंगे और देशी अंदाज में होने वाली हमारी संगोष्ठियों को ये पंचसितारा आयोजन बेदखल करेंगे। हिंदी साहित्य के दिग्गज साहित्यकारों को इन सवालों पर गौर करना होगा।

बहुवचन के इस अंक में आलोचना की जातीय स्वाधीनता पर वरिष्ठ आलोचक शंभुनाथ का लेख है। रवीन्द्रनाथ टैगोर पर हिंदी में कितना काम हुआ है इसकी पड़ताल करता है बांग्ला साहित्य के अध्येता रामशंकर द्विवेदी का आलेख। सिनेमा में हुए हो रहे बदलाव पर के. हरिहरन और 1857 की 157वीं वर्षगांठ पर परिमल प्रियदर्शी के आलेख हैं। स्मृति में प्रख्यात कथा शिल्पी अमरकांत को याद किया है प्रतुल जोशी ने वहीं मराठी कविता को एक नया तेवर देने वाले नामदेव ढसाल की कविताओं पर मूल्यांकन लेख है। विदेश नीति विशेषज्ञ मुचकुंद दुबे का विश्लेषणपरक महत्वपूर्ण व्याख्यान, दीपक मलिक का तुर्की पर केंद्रित पठनीय यात्रा वृत्तांत, संस्मरण, कहानियां हैं। कविता खंड में भारतीय कविता के साथ-साथ भाषांतर में पांच अलग-अलग भाषाओं के कवियों की एक-एक कविता है। स्त्री विमर्श के अंतर्गत कथाकार जयनंदन का लेख है, जो कि आज के स्त्री लेखन की विशेषताओं पर केंद्रित है। मीडिया में जनसरोकारों की अनदेखी पर वरिष्ठ पत्रकार अरुण कुमार त्रिपाठी का लेख विचार के कई बिंदु उठाता है। पूर्व की भांति वरिष्ठ कथाकार संजीव का कालम बात बोलेगी भी है। इस बार बहुवचन का बहुविध सामग्री से युक्त यह अंक कैसा लगा यह जिज्ञासा रहेगी।

यह विश्वविद्यालय के लिए हर्ष का विषय है कि प्रो. गिरीश्वर मिश्र ने पिछले दिनों विश्वविद्यालय के कुलपति पद का कार्यभार संभाल लिया है। वे दिल्ली विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान विषय के प्रोफेसर रहे हैं और पिछले चार दशकों से इसी क्षेत्र में लगातार अपनी सक्रिय उपस्थिति बनाए हुए हैं। कार्यभार ग्रहण करने के साथ ही साथ श्री मिश्र ने विश्वविद्यालय में लगातार आयोजित दो-तीन सार्वजनिक कार्यक्रमों के दौरान शैक्षिक वातावरण को बेहतर बनाने और शोध का स्तर सुधारने के प्रति अपनी प्राथमिकताएं स्पष्ट कर दी हैं। बहुवचन परिवार को यह घोषित करते हुए हर्ष है कि वे पत्रिका के संरक्षक संपादक के रूप में हमारा मार्गदर्शन करेंगे। विश्वविद्यालय परिवार में उनका हार्दिक स्वागत है कि वे अपने और कर्मचारियों के सामूहिक प्रयत्नों से विश्वविद्यालय को नई ऊंचाइयों की ओर अग्रसर करें।

अशोक मिश्र

आलोचना की जातीय स्वाधीनता

शंभुनाथ

यदि राष्ट्रीय जीवन में स्वाधीनता की भूख हो यह स्वाभाविक है कि आलोचना में भी सैद्धांतिक औपनिवेशिकता से मुक्ति की आकांक्षा पैदा होगी। एक समय जिस तरह उपनिवेशकों के साहित्य ने भारत के पढ़े-लिखे लोगों के बौद्धिक उपनिवेशन में एक बड़ी भूमिका निभाई थी, इसी तरह पश्चिम से एक के बाद एक आने वाले सिद्धांत हिंदी में इस तरह चर्चित होते रहे हैं, जैसे ये वैश्विक परिप्रेक्ष्य हों जबकि ये यूरोपीय दृष्टिकोण भर थे। हिंदी के कई लेखक इन सिद्धांतों के पीछे ऐसे दौड़ते रहे हैं जैसे अपनी ओर आती कटी पतंग लूट रहे हों। इस विड़ंबना पर सोचने की जरूरत है कि इतने आलोचकों के रहते हुए एक भी सिद्धांत आखिरकार हिंदी क्षेत्र से बनकर पश्चिम क्यों नहीं गया, सभी सिद्धांत पश्चिम में ही बनकर हिंदी या ऐसी अन्य भारतीय भाषाओं में क्यों आए?

हम रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में देखते हैं कि उसमें राजनीतिक आत्मनिर्णय की तरह ही सैद्धांतिक स्वत्व की भी चेतना थी। उनकी आलोचना का भारतीय स्वाधीनता संग्राम से सीधा संबंध है। उन्होंने हिंदी की स्वतंत्र सत्ता के लिए लड़ते हुए और संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव करने के उद्देश्य से आलोचना की दुनिया में प्रवेश किया था। उन्हें शरीर सुख, दौलत और सत्ता के नशे में डूबे रहने की तुलना में स्वतंत्र जातीय सत्ता अर्जित करना ज्यादा जरूरी लगा। इसलिए काव्य में प्राकृतिक दृश्य में उनके कथनों का केंद्रीय सार है 'अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्त की तो क्या?' वैश्वीकरण के जमाने में भारत के स्वतंत्र स्वरूप को पहचानने की जरूरत बढ़ गई है। गौर करने की चीज है, आचार्य शुक्ल ने जब भी अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता की बात की उनका आशय हिंदू जाति न होकर भारतीय जाति है।

आलोचना को यदि समीक्षा तक सीमित न करें तो आलोचना तब से है, जब से धर्म, काव्य, दर्शन, विज्ञान और कलाएं हैं और ये सब प्राचीन काल से हैं।, वाल्मीकि, बुद्ध, लोकायत परंपरा के लोग, कबीर और अन्य भक्त कवि पहले आलोचक थे, अन्यथा वे नवता के प्रवर्तक नहीं हो सकते थे। नवजागरण की रीढ़ है आलोचना। रामचंद्र शुक्ल का योगदान यह है कि उन्होंने आलोचना को एक स्वतंत्र आधुनिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया और इसकी स्वाधीनता के लिए आजीवन संघर्ष किया।

साहित्य जिस जीवन-उत्साह के साथ लिखा जाता है, जिस जीवन-रस के साथ लिखा जाता है, उन्होंने आलोचना उसी तरह लिखी। यह जो उनके बारे में कहा जाता है कि उनके बुद्धिवाद की यात्रा में हृदय हमेशा साथ रहा है, इसका अर्थ है- उनकी आलोचना जीवन के उत्साह और रस के

हमेशा भरी रही है।

उपनिवेशवाद ने भारत को आर्थिक लूट से खोखला करके और उस पर पतनशील पश्चिमी सभ्यता थोपकर इस देश के लोगों को जीवन-उत्साह और जीवन-रस से वंचित कर दिया था। भारत के लोग एक उदासीन- अलगाव-भरा और कृत्रिम जीवन जीने लगे थे। सबसे बड़ी मुश्किल थी, वे अपना स्वरूप भूलते जा रहे थे। यही वजह है कि रामचंद्र शुक्ल भारतीय जाति के स्वतंत्र स्वरूप, राष्ट्रीय विनाश की औपनिवेशिक घटनाओं और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के सवाल पर लगातार सोच रहे थे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की चिंता साहित्य की व्याख्या और मूल्य निर्णय तक सीमित नहीं है, यह राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के सामाजिक दायित्व तक विस्तृत है। चाहे हिंदी साहित्य का इतिहास लिखना हो या जायसी और तुलसी की महत्ता का उद्घाटन, 'कविता क्या है' की चिंता हो या बुद्धिवाद के समर्थन में 'विश्व प्रपंच' की लंबी भूमिका और इतिहास के विषयों पर लिखना हिंदी की स्वतंत्र सत्ता के लिए संघर्ष हो या 'कला के लिए कला' जैसे पश्चिमी साहित्यिक सिद्धांतों से टकराहट, यहां तक कि उनका विविध सांस्कृतिक स्मृतियों में बार-बार जाना, ये सभी एक बड़े उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के अंग हैं। वह वस्तुवादी, बुद्धिवादी और आधुनिक भर नहीं हैं, राष्ट्रीय भी है- उनमें 19वीं सदी के राष्ट्रीय जागरण की निरंतरता बनी हुई है।

भारतीय जाति के स्वरूप की पहचान में दो सबसे बड़ी बाधाएं रही हैं। एक, भारत को पश्चिमी रंग में देखना। दो, इसे प्रभेद-भरी सामंती पहचान और श्रृंगारिक कामुकता से बांध देना। एक तरह से ये ही साम्राज्यवाद-सामंतवाद के बौद्धिक जाल हैं जिनमें आज भी भारतीय जीवन फंसा है नकल में मस्त है। पश्चिम से बाजार के बहुरंगे माल के साथ विचार भी आ रहे हैं 'थियरी भी आ रही है। यह घटना साहित्य की ही नहीं है। शिक्षा, मीडिया और जीवन शैली, सभी जगहों पर अंधानुकरण बढ़ा है। एक जमाने में अफ्रीका के लोग अंग्रेज दिखने के लिए भीषण गर्मी में भी कोट ओर टाई पहनने लगे थे। रामचंद्र शुक्ल ने अपने देश की ऐसी घटनाओं पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि जब तक 'भेदी नकल को ही नवीनता मानकर संतोष करते रहेंगे, सभ्य जनों के उपहासभाजन बनेंगे और पश्चिमवासी हमेशा हेय दृष्टि' से देखेंगे। जाहिर है, इस स्थिति में, हमारी आंख अपना स्वरूप न देख सकेगी। कहना न होगा कि अपना स्वरूप देखने के लिए, भारत को उसी संपूर्णता में देखने के लिए साहस और कल्पनाशीलता की जरूरत है, जो रामचंद्र शुक्ल में थी।

रामचंद्र शुक्ल एक आलोचक हैं। वह अपनी लड़ाई आलोचना की जमीन पर लड़ते हैं। भारतीय जाति के स्वरूप की पहचान के लिए सबसे पहले उन्होंने आलोचना की स्वाधीनता की मांग की, जिसका अर्थ है, 'अंतर्दृष्टि को आच्छन्न करने वाले परदों को हटाना। उनकी यह समझ इसलिए महत्वपूर्ण है कि आज भी भारत को देखने के लिए मुख्यतः पश्चिमी बौद्धिक केंद्रों में बनी सैद्धांतिक अवधारणाओं से काम लिया जाता है और विकास के रास्ते पश्चिम ही तय करता है। दूसरे, भारतीय जीवन में सामंती संकीर्णता और कामुकता की एक बार फिर सुनामी आई है। सामंती संकीर्णताएं उभर रही हैं राजनीति की ताकत लेकर और कामुकता का बोलबाला है बाजार की ताकत से। राजनीति और बाजार इस समय सियामी ट्विन्स हैं, अविभाज्य!

आलोचना की स्वतंत्रता केवल तभी खतरे में नहीं पड़ती, जब अभिव्यक्ति की आजादी छिनती

है या आपातकाल जैसा वक्त आता है। यह तब भी संकट की रेखा पर होती है, जब आलोचनात्मक दृष्टि पर औपनिवेशिक या उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत छाए होते हैं या सामंती संकीर्णता और कामुकता की थियरी हावी रहती है।

आलोचक के पास जो पहली चीज होनी चाहिए, वह है दृष्टि। यह दृष्टि जब उपनिवेशवाद के बौद्धिक परदों से अच्छी होगी या सामंती संकीर्णता और कामुकता डूबी होगी, आलोचना का जोखिम उठाना संभव नहीं होगा। इसलिए रामचंद्र शुक्ल ने कुछ पीड़ा से कहा था, 'आजकल विचारों की पराधीनता के कारण यूरोप ही जगत समझा जाता है' (काव्य में रहस्यवाद)। इसी वैचारिक पराधीनता को नजर में रखते हुए उन्होंने कहा, 'यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का, हमारे साहित्य शास्त्र का एक स्वतंत्र रूप है, जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतंत्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को जब सूक्ष्मता से पहचान लेंगे, तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतंत्र पर्यावलोकन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा, दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं।' (वही) आचार्य शुक्ल का सारा जोर आलोचना दृष्टि को वैचारिक पराधीनता से मुक्त करने पर है। वह अंग्रेजी साहित्य और कलावादी साहित्य सिद्धांतों का अध्ययन कर चुके थे। चाहते तो उनसे उपकरण लेकर चमक-दमक से भरी आभिजात्य आधुनिकता का प्रदर्शन कर सकते थे, क्योंकि उन सिद्धांतों की आंधी थी। उन्होंने ऐसा नहीं किया और आधुनिकता की भिन्न राह खोजी।

हिंदी जातीय जागरण और साहित्य के क्षेत्र में स्वाधीनता की आकांक्षा को हिंदू राष्ट्रवाद में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। हमें रामचंद्र शुक्ल की व्यापक वैचारिक जमीन को समझना होगा, जो संस्कृति-मुखी होते हुए भी सांप्रदायिक और जातिवादी नहीं है। इसी तरह सौंदर्य-उन्मुखी होकर भी शृंगारिक-विलासी नहीं है। वह परंपरा और आधुनिकता के बीच ही किसी जगह ज्यादा खुलकर सांस ले पाते हैं। उन्होंने कई जगहों पर कहा है कि साहित्य को धर्म और ईश्वर से दूर रखो। वह इसे रीतिवाद के संकुचित घेरे से निकालकर स्वच्छंद विश्वबोध से जोड़ना चाहते हैं, 'हम सारा काव्य क्षेत्र देव, मतिराम और बिहारी आदि के भीतर देखने वाले पुरानी लकीर के फकीर न कभी रहे हैं और न हैं। हम अपने हिंदी काव्य को विश्व की नित्य और अनंत विभूति में स्वच्छंदतापूर्वक अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार, अपनी आंख खोलकर विचरण करते देखना चाहते हैं। वह दिन तभी आ सकता है, जब हमारी अंतर्दृष्टि को आच्छन्न करने वाले परदे हटेंगे और हमारे विचारों में बल आएगा। (वही) अपने लेखन में वह बार-बार 'लकीर के फकीर नहीं' के साथ-साथ अपनी स्वाभाविक प्रेरणा से आंख खोलकर जैसी वैचारिक सतर्कताएं बरतने के लिए कहते हैं। इसका लक्ष्य है विचारों में बल लाने के लिए सामंतवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद से बौद्धिक-सांस्कृतिक मुक्ति। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कभी भी विचारों में बल लाए बिना संभव न था। यह बल सामंती संकीर्णता, शृंगारिक और पश्चिम के अंधानुकरण से नहीं आ सकता था।

रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना को उस दौर में आधुनिक जमीन दी, जब शृंगारिक कामुकता का दबदबा घटा नहीं था और पिछले दरवाजे से अध्यात्मवाद भी घुस रहा था। दरअसल कामुकता और अध्यात्मवाद हर जमाने में नए आकर्षणों के साथ छाते रहे हैं। पहले ये काव्य में ही प्रकट होते

थे। अब ये हर जगह मिलेंगे। चाहे श्रव्य-दृश्य मीडिया और विज्ञापन हों या क्रिकेट के चीयर लीडर्स, फिल्म, प्रवचन, योग और ध्यान जैसी बाजार की अनगिनत वस्तुएं हों। इस समय अध्यात्म, आध्यात्मिक चमत्कार और कामुक मनोरंजन की चीजें साहित्यिक पुस्तकों से कहीं बहुत अधिक बिकाऊ हैं।

रामचंद्र शुक्ल ने जो अध्यात्मवाद देखा था, वह 19वीं सदी के हिंसक भौतिकवाद और प्रथम विश्व युद्ध की प्रतिक्रिया में सामने आया था। बौद्धिक उपनिवेशवाद से बाहर निकलकर सोच रहे थे। इसलिए उन्हें यह समझने में मुश्किल नहीं हुई 'यूरोपीय जतियों ने एशिया, अफ्रीका और अमेरिका आदि बाहरी भूभागों में जाकर क्रूरता और निष्ठुरता का बड़े अध्यवसाय के साथ अभ्यास किया। फल क्या हुआ? उस निष्ठुर और क्रूर वृत्ति का अत्यंत भीषण विधान अंत में गत महायुद्ध में यूरोप के भीतर ही सामने आया, जिससे वहां आध्यात्मिकता की चर्चा का फैशन खूब बढ़ा। इस रोग की दवा अध्यात्मवाद, आत्मा की एकता, ब्रह्म की व्यापकता आदि की बनावटी पुकार नहीं है। इसका एकमात्र उपाय चराचर के बीच एक हृदय की सच्ची अनुभूति तथा मनुष्य तक ही नहीं उसके बाहर के भावों का सामंजस्यपूर्ण प्रसार है। (वही) इस कथन से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल धार्मिक कर्मकांड और दिखावे के ही विरोधी न थे, आज बाबाओं, गुरुओं और स्वामियों के जिस अध्यात्म का बहुरंगा बाजार सजा हुआ है, अपने समय के ऐसे पाखंड-जाल के भी विरोधी थे। वह अध्यात्म की जगह हृदय की सच्ची अनुभूति को प्रधानता देते थे। यह लौकिक आदर्शवाद था।

भारत से अध्यात्म पश्चिमी देशों में व्यावसायिक माल के रूप में जाता रहा है। भारत दुनिया में तर्क की जगह अध्यात्म के लिए ज्यादा प्रसिद्ध है। आचार्य शुक्ल पश्चिम में बनी भारत की इस एकरस छवि के विरुद्ध थे, 'यूरोपवालों को हमारी आध्यात्मिकता बहुत पसंद आती है। भारतीयों की आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता की चर्चा पश्चिम में बहुत हुआ करती है। इस चर्चा के मूल में कई बातें हैं। एक तो ये शब्द हमारी अकर्मण्यता और बुद्धिशैथिल्य पर परदा डालते हैं। दूसरी बात यह है कि ये शब्द पूरबी ओर पश्चिमी जातियों के बीच एक ऐसी सीमा बांधते हैं जिससे पश्चिम में हमारे संबंध में एक प्रकार का कुतूहल-सा जागृत रहता है और हमारी बात वहां अनूठेपन के साथ कही जा सकती है। तीसरी बात यह है कि आधिभौतिक समृद्धि के हेतु जो भीषण संघर्ष सैकड़ों वर्ष तक यूरोप में रहा, उससे क्लांत और शिथिल होकर बहुत से लोग जीवन के लक्ष्य में परिवर्तन चाहने लगे। (वही) आचार्य शुक्ल का अध्यात्मवाद-विरोध भारत की तार्किक और जीवन-उन्मुखी परंपरा को खोजने के लिए प्रेरित करता है।

आलोचना में रामचंद्र जिस तरह साहित्य के अलावा विभिन्न समाजवैज्ञानिक विषयों को शामिल करते हैं और साहित्य को भी मनुष्येतर चीजों वृक्ष, पशु-पक्षी, नदी, जंगल से जोड़ना चाहते हैं, उसी तरह पश्चिम के मानववादी या मानवकेंद्रित दृष्टिकोण का विरोध करते हुए कहते हैं, 'न जाने क्यों हमें मनुष्य जितना अन्य चर-अचर प्राणियों के बीच अच्छा लगता है, उतना अकेले में नहीं। हमारे राम भी हमें मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने अयोध्या की राजसत्ता में नहीं।' (वही) उनमें सरकारी सत्ता के प्रति सदा से उदासीनता थी, क्योंकि सत्ता आदमी को बनावटी और संवेदनहीन बनाती है। इसकी जगह वह सृष्टि की चर-अचर चीजों को एक व्यापक पर्यावरणीय दृष्टि से महत्व देते हैं। वह प्रकृति का संसाधन भर नहीं मानते, जिसका दोहन

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। उनकी दृष्टि में प्रकृति के साथ ही मनुष्य पूर्ण होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि वह इधर के आधुनिक लेखकों की तरह मैं-मैं-मेमियाते नहीं हैं हमेशा 'हम' कहकर अपनी बात कहते हैं जैसे कि ऊपर ही देख लें।

यह मानना कठिन है कि कोई एक ही भारतीय दृष्टि है, क्योंकि यह बहुलता से इनकार करना है। रामचंद्र शुक्ल कहते हैं। भारतवर्ष में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यह अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है। मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के भीतर ही उसका संचार होता है। चेतना के कोने के बाहर न वह झांकने जाती है, न जा सकती है। (वही) वह साहित्य की लौकिक भूमि और लोक से है अनुभाव-विभाव या आलंबन-उद्दीपन जैसे रस-पद्धति के प्राचीन मुहावरों से साहित्य को देखना संभव न था इसलिए रस-सिद्धांत से भी स्वाधीनता जरूरी थी। इसके बावजूद मानना होगा कि कहीं-कहीं इस सिद्धांत के पुराने मुहावरों में सोचते हुए भी रामचंद्र शुक्ल का मुख्य लक्ष्य आलोचना को मनोरंजन और दिलबहलाव वाले 'उक्तिवैचित्र्य के विरुद्ध खड़ा करना है, ताकि आलोचना लोकमंगल के परिप्रेक्ष्य से जुड़ सके। साहित्य की भारतीय परंपरा यही है।

आचार्य शुक्ल कहते हैं कि कहीं अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है सहित्य की भारतीय परंपरा में ही, 'ऐसे स्वतंत्र और विशाल भारतीय समीक्षा भवन के निर्माण की संभावना छिपी हुई है, जिसके भीतर लाकर हम सारे संसार के साहित्य की आलोचना अपने ढंग से कर सकते हैं।' (वही) आधुनिक युग में अकसर पश्चिम से साहित्यिक सिद्धांत लाकर साहित्य की आलोचना हुई। हिंदी में बड़े-बड़े आलोचक हुए, पर सिद्धांतों का आयात ही अधिक हुआ। हिंदी आलोचकों का एक बड़ा हिस्सा विदेशी लेखकों के उद्धरणों से भर गया, जबकि किसी विदेशी लेखक ने हिंदी लेखक को नहीं पूछा।

हमारे विश्वविद्यालयों में लंबे समय से देखा जा रहा है कि भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में पंडितराज जगन्नाथ के बाद मामला बंद हो जाता है और विद्यार्थियों के सामने तुरंत प्लेटो-अरस्तू से लेकर संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, विखंडनवाद आदि तक सिर्फ पाश्चात्य साहित्यशास्त्र सामने ला दिया जाता है। इन स्थितियों में रामचंद्र शुक्ल की यह महत्वाकांक्षा तात्पर्यपूर्ण है कि एक स्वतंत्र और विशाल भारतीय समीक्षा भवन का निर्माण हो। इसका अर्थ है वह रस सिद्धांत का कामचलाऊ तौर पर इस्तेमाल करते हुए आलोचना के एक नए स्थापत्य की जरूरत महसूस करते हैं। वह चाहते हैं कि हम भारतीय साहित्य के साथ पश्चिमी सहित्य की आलोचना भी अपने ढंग से करें, अपने साहित्य की आलोचना उनके ढंग से नहीं। कहना न होगा कि यह एक भारी बौद्धिक उलटफेर की आकांक्षा है। उन दिनों की बहुत-सी आकांक्षाएं पूरी नहीं हुईं। यह आकांक्षा भी पूरी नहीं हुई।

यह समझना होगा कि आचार्य शुक्ल की भारतीय समीक्षा भवन की अवधारणा एक बंद रेल डिब्बा नहीं है। वह 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में गद्य सहित्य के संदर्भ में कहते हैं 'हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि यूरोप के साहित्य के क्षेत्र में उठी हुई बातों की चर्चा हमारे यहां न हो। यदि हमें वर्तमान जगत के बीच से अपना रास्ता निकालना है, तो वहां के अनेक वादों और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय होना चाहिए। उन वादों की चर्चा अच्छी तरह हो, उन पर पूरा विचार हो उनके भीतर जो थोड़ा-बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास में रखा जाए, पर इसमें से कभी इसको कभी उसको यह कहते हुए सामने रखना कि वर्तमान विश्व साहित्य का स्वरूप यही है जिससे हिंदी अभी बहुत दूर है, अनाडीपन ही नहीं जंगलीपन

भी है।' (गद्य सहित्य की वर्तमान गति, तृतीय उत्थान)। यह संभव है कि अपने जीवनकाल में पश्चिम और पूर्व के संवाद की जरूरत महसूस करते हुए भी आचार्य शुक्ल को लग गया हो कि यह संवाद की जगह सरासर बौद्धिक आत्मविसर्जन है इसलिए वह अंधानुकरण को जंगलीपन तक करार देते हैं।

आज वैश्वीकरण के दौर में पश्चिमी चीजें बेरोकटोक आ रही हैं। अमेरिका का कचरा भी चमक-दमक से भरा है। साहित्य में भी आज बहुत विदेशी माल है। रामचंद्र शुक्ल का यह कथन लगता है कि जैसे वर्तमान स्थितियों पर टिप्पणी हो- 'किसी साहित्य में केवल बाहर की भद्दी नकल उसकी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती। बाहर से सामग्री आए, खूब आए, पर वह कूड़ा-कर्कट के रूप में न इकट्टी की जाए। उसकी कड़ी परीक्षा, हो, उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाए जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुंचे। भारत और संपूर्ण एशिया में नकल ने इस देश महादेश की आलोचनात्मक शक्ति को काफी मार डाला है। इसके अपने पैरों से चलने की ताकत छीन ली है। इसे इतना परजीवी बना दिया है कि इस महाजाल से निकलना बड़ा कठिन है पर जरूरी भी है।

हमने हिंदी आलोचना में नई आलोचना शैली विज्ञान, संरचनावाद, उत्तर-आधुनिकतावाद और विखंडनवाद की सैद्धांतिक धूम समय-समय पर देखी है। हालांकि इनमें से किसी का भी ठोस आधार लेकर हिंदी की किसी कृति की सार्थक आलोचना कभी नजर नहीं आई। हिंदी में आलोचना के आधुनिक औजारों को इस्तेमाल करते हुए मुख्य रूप से वस्तुवादी प्रगतिशील और यथार्थवादी आलोचना की ही अपनी बड़ी उपलब्धियां हैं। कोई आलोचक किसी खास या कुछ खास कृतिकारों तक ठहर गया हो, उसका दृष्टिकोण किसी बिंदु पर अपनी व्यक्तिगत पसंद या मतांधता का शिकार हो, पर यदि हिंदी आलोचना में कुछ भी श्रेष्ठ है, वह इसी मुख्य धारा में है। इसकी वजह है एक विकासशील और भारी विषमता-भरे देश में, एक कम सैद्धांतिक खिलंदडेपन वाले देश में साहित्य पर यथार्थवाद का किसी न किसी देश रूप में सामाजिक दबाव बना रहेगा। कोई आलोचक अमेरिका के पॉश बौद्धिक केंद्रों में बने संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी या उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों का लटक-मटककर बाजा बजा सकता है, पर उनमें रो-हँस नहीं सकता, कुछ कह सुन-नहीं सकता।

यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि रामचंद्र शुक्ल अपने जमाने में राष्ट्रीय यथार्थवादी के दबाव में थे। यह आधुनिक राह पर चलते हुए कहते हैं, यूरोप के समीक्षा क्षेत्र में उठते रहने वाले वादों के संबंध में यह बात पक्की समझनी चाहिए कि वे एकांगदर्शी होते हैं। वे या तो प्रतिवर्तन (रिएक्शन) के रूप में या प्रचलित मतों में अपनी कुछ विलक्षणता या नवीनता दिखाने की झोंक में जोर-शोर के साथ प्रकाशित किए जाते हैं। इससे उनमें अत्युक्ति की मात्रा बहुत अधिक होती है। वे प्रायः अव्याप्ति या अति-व्याप्तिग्रस्त होते हैं। अपनी कसौटी पर बिना उनकी कड़ी परीक्षा किए उनका राग अलापना अंधेपन का प्रचार करना है। काव्य के रहस्यवाद उन्होंने जगह-जगह दिखाया कि कला के लिए कला, अभिव्यजनावाद, प्रभाववादी समीक्षा, नई समीक्षा, शैली विज्ञान आदि किसी तरह वस्तु जगत को हृदय के विश्वभाव को, इतिहास और समाज को महत्व नहीं देते। उनका मुख्य लक्ष्य व्यक्तिवाद का प्रचार है, जो पश्चिमी सभ्यता की धुरी है। वास्तविकता यह है कि कड़ी परीक्षा की जगह उस जमाने के काफी बुद्धिजीवी व्यक्तिवादी साहित्य सिद्धांतों का अंधे होकर स्वागत कर रहे

थे, हालांकि उन सिद्धांतों से बंधकर खरा लेखन नहीं कर पा रहे थे।

हम रामचंद्र शुक्ल की हँसी को नहीं समझ सके, क्योंकि यह उनकी ओंठ तक फैली मूँछों से ढकी रहती थी। उनके क्रोध को समझ सकते हैं। यह सोच के साथ क्रोध है, विचारहीन क्रोध नहीं। उन्होंने लिखा है- 'नकल से किसी जाति के साहित्य का असली गौरव नहीं हो सकता। इससे उसकी अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपनी उद्भावना का अभाव ही व्यंजित होता है। जिसकी नकल की जाती है, वह और भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। यह नवीनता नहीं है- अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रांत हृदय का घोर नैराश्य है, कहां तक कहें? घोर साहित्यिक गुलामी है। (वही) 'काव्य में रहस्यवाद' निबंध जैसे है तो रहस्यवाद पर आक्रमण लेकिन इसका मूल लक्ष्य है, आलोचना की जातीय स्वाधीनता की घोषणा। इसमें 'बुद्धि के घोर आलस्य' से निकलने का आह्वान है, जिस आलस्य से आम भारतीय आज भी पीड़ित है।



(लेखक वरिष्ठ आलोचक हैं)

रवीन्द्रनाथ : हिंदी अध्ययन की संभावनाएं

रामशंकर द्विवेदी

एक संपादक से बात हो रही थी फोन पर। उन्होंने कहा मेरी पत्रिका के लिए कुछ भेजिए। मैंने कहा क्या रवीन्द्रनाथ पर कुछ भेजूं? तो बोले, नहीं भाई, रवीन्द्रनाथ पर तो हिंदी में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, कोई और रचना भेजिए। जिस समय की यह बात है तब रवीन्द्रनाथ की 150वीं जयंती शुरू नहीं हुई थी। दो-एक वर्ष बाकी थे। रचना तो मैंने उन्हें भेज दी किंतु मेरे मन में तभी से एक कुरेदन उत्पन्न हो गई कि क्या सचमुच में रवीन्द्रनाथ पर हिंदी में पूरा काम हो चुका है? क्या उन पर इतना लिखा जा चुका है कि अब लिखने की अब कोई संभावना नहीं है।

हिंदी में अब तक रवीन्द्रनाथ पर दो तरह के काम हुए हैं- एक उनकी रचनाओं के अनुवाद, दूसरे उन पर स्वतंत्र ग्रंथ-लेखन। अनुवाद में उनके उपन्यास, नाटक, कहानियां, बाल साहित्य, निबंध आदि हिंदी में हमें उपलब्ध हैं। हिंदी में उनके अनुवाद की परंपरा बहुत पुरानी है। रणजीत साहा के अनुसार यह हैरानी भरी सूचना है कि प्रसिद्ध हिंदी कथाकार गोपालराम गहमरी ने रवीन्द्रनाथ की नाटिका 'चित्रांगदा' का अनुवाद वर्ष 1895 ई. में किया था। हिंदी में कवि रवीन्द्रनाथ की स्वीकार्यता 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा वर्ष 1901 ई. से आरंभ कर अंतिम कुछ अंकों तक बनी रही। सरस्वती के मार्च 1912 ई. के अंक में संपादक प्रवर पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखा गया 'कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर' शीर्षक व्यक्ति-चित्र भी इस बात का प्रमाण है कि विश्वकवि कुल गुरु के रूप में प्रतिष्ठित होने वाले इस मनीषी की पहचान हिंदी साहित्य समाज ने समय रहते ही कर ली थी। (डॉ. देवेन्द्र देवेश, गीतांजलि का हिंदी अनुवाद, पृष्ठ 16) उन्होंने इस लेख में लिखा- 'कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बंगाल के प्रसिद्ध पुरुषों में से हैं। वह बंग-साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। उनका साहित्य बंगाल के घर-घर में पढ़ा जाता है तथा उनके गीत गाए जाते हैं। शिक्षित बंगालियों के विचारों में उन्होंने बड़ा परिवर्तन ला दिया है (महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खंड 15, सं-भारत यायावर, पृष्ठ 347)।

उनकी गीतांजलि के अब तक हिंदी में 40 अनुवाद उपलब्ध हो चुके हैं। रवीन्द्रनाथ की कहानियों, नाटक, उपन्यास, काव्य आदि को लेकर उन पर शोध भी काफी हो चुके हैं। उनकी जन्मशती और 125वीं जयंती तथा अभी 150वीं जन्म जयंती पर हिंदी की कई पत्रिकाओं और समाचार पत्रों में उन पर विशेष सामग्री भी प्रकाशित हुई है। 150 वीं जन्मशताब्दी पर साहित्य अकादेमी, भारत सरकार के संस्कृति विभाग तथा अन्य कई संस्थाओं द्वारा गुरुदेव के व्यक्तित्व और

उनकी सृष्टि पर संगोष्ठियां भी व्यापक पैमाने पर हुई हैं। इनमें प्रायः भारतीय भाषाओं के प्रतिनिधि लेखकों ने यह बताया कि उनके साहित्य और काव्य को रवीन्द्रनाथ ने कितना प्रभावित किया तथा उनके प्रभाव के कारण कई भारतीय भाषाओं के लेखकों ने अपनी भाषाओं में लघुगल्प, नाटक तथा उपन्यास लिखने शुरू किए। इसके साथ यह ब्यौरा प्राप्त हुआ कि भारतीय भाषाओं में ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें उनके साहित्य का अनुवाद न हुआ हो। इतना व्यापक आवेदन होने के बाद भी मेरे मन में बराबर यह प्रश्न उठता है कि हिंदी देश की प्रमुख भाषा है, उसकी जिम्मेदारी भी बहुत है क्या उसमें रवीन्द्रनाथ का अध्ययन उतना हुआ जितना होना चाहिए। अर्थात् हिंदी में रवीन्द्रनाथ के अध्ययन की अब भी कौन सी संभावनाएं शेष हैं और उन्हें कैसे पूरा किया जा सकता है। मेरे मन में आज का यही प्रमुख प्रश्न है। आखिर बांग्ला में रवीन्द्रनाथ का अध्ययन किस दृष्टि से हुआ है और आज भी उसका सिलसिला थमा नहीं है। मानो रवीन्द्रनाथ का जीवन और उनकी साहित्य-सृष्टि एक प्रवाह है, जिसके नित नए घाट, मोड़, भंगिमाएं अविष्कृत होती चल रही हैं। रवीन्द्रनाथ पर जो सबसे पहला आधारभूत और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा गया वह है प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की रवीन्द्र जीवनी। इसका पहला खंड 1933 ई. में निकला था, दूसरा 1936 ई. में। उसके बाद इन दोनों खंडों के विपुलाकार को लेखक ने चार खंडों में विभाजित कर इसके 3 व 4 खंड का प्रकाशन 1956 ई. में किया। तब से लेकर अपने जीवनकाल तक रवीन्द्र जीवनी के हर संस्करण में नए तथ्यों, नई सामग्री का संयोजन होता रहा और अगर आज वे बने होते तो उसमें और भी संयोजन, परिवर्तन, परिवर्धन करते। यह विपुलाकार ग्रंथ रवीन्द्रनाथ की सिर्फ जीवनी ही नहीं उनके साहित्य में प्रवेश करने का द्वार भी है इसलिए इसे रवीन्द्र-साहित्य-प्रवेशक भी कहा गया है।

इस जीवनी की सबसे बड़ी विशेषता है रवीन्द्र के जीवन और उनकी कर्म-कीर्ति का तथ्यपरक विश्लेषण। आखिर रवीन्द्रनाथ ने कोई कविता क्यों लिखी इसका ऐतिहासिक कारण पाठक को रवीन्द्र जीवनी में मिलेगा। इसलिए रवीन्द्र जीवनी सिर्फ कवि की जीवनी ही नहीं बंगाल और भारत के तत्कालीन युग का इतिहास भी है। ऐसा वे इसलिए कर सके क्योंकि प्रभात कुमार मूलतः इतिहासकार थे फिर भी उनके विश्लेषण में रस है।

इस ग्रंथ के लिए उन्होंने तब से तथ्य संग्रह शुरू कर दिए थे जब शांतिनिकेतन में न तो रवीन्द्र भवन की स्थापना हुई थी न उसकी परिकल्पना ही की गई थी। उन्होंने रवीन्द्र विषयक सामग्री अपने व्यक्तिगत प्रयास से तत्कालीन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से संगृहीत की थी। जब रवीन्द्र भवन में रवीन्द्र विषयक सामग्री जमा होने लगी तब उन्होंने उससे भी सहायता ली किंतु आज की तरह तब सामग्री इतनी व्यवस्थित नहीं थी। उन्हें इस ग्रंथ की रचना करने में 25 वर्षों तक अक्तांत परिश्रम करना पड़ा था। सोचिए उनमें कितना धैर्य होगा! उनका यह ग्रंथ कोरे तथ्यों का संग्रह ही नहीं उन्हें ऐतिहासिक पीठिका पर रखकर कवि के जीवन और साहित्य-सृष्टि के कालक्रमानुसार विश्लेषण के साथ संगति बैठाते हुए प्रस्तुत किया गया है। आज भी जो रवीन्द्रनाथ पर शोध करना चाहते हैं तो उन्हें रवीन्द्र जीवनी के पन्ने उलटने ही पड़ेंगे। रवीन्द्र जीवनी के प्रकाशित होने के बाद ही रवीन्द्रनाथ और उनके साहित्य की देश में गंभीर चर्चा प्रारंभ हुई। रवीन्द्र जीवनी का यह भी एक प्रदेय है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि प्रभातकुमार मुखोपाध्याय जैसी 'रवीन्द्र जीवनी' हिंदी में क्यों नहीं है। ... क्यों किसी ने इसके अनुवाद के विषय में नहीं सोचा?

प्रभातकुमार की 'रवीन्द्र जीवनी' रवीन्द्रनाथ के जीवन पर अंतिम ग्रंथ है, इसमें कोई कमियां नहीं हैं, अथवा प्रभातकुमार के बाद रवीन्द्रनाथ-विषयक जिन नए तथ्यों, उनकी अप्रकाशित रचनाओं, उनकी पहले से प्रकाशित रचनाओं के पाठांतरों, उनके अनगिन अप्रकाशित पत्रों का आविष्कार होने लगा क्या उनके प्रकाश में एक और रवीन्द्र जीवनी की दरकार नहीं बढ़ गई। यह काम किया एक दूसरे मनीषी ने जिनका नाम है प्रशांतकुमार पाल।

प्रभातकुमार द्वारा प्रणीत रवीन्द्र जीवनी उलटते-पलटते उन्होंने लिखा है: '1972 ईस्वी में कालक्रमानुसार चिट्ठी-पत्री समेत रवीन्द्र रचनाएं पढ़नी शुरू की थीं.....पढ़ने की सुविधा के लिए श्रद्धेय प्रभातकुमार मुखोपाध्याय द्वारा लिखित चार खंड की रवीन्द्र जीवनी और रवीन्द्र साहित्य प्रवेशक एवं अन्य कई ग्रंथों के आधार पर क्या-क्या पढ़ना है इसकी एक रूपरेखा बना ली थी किंतु पढ़ना जैसे-जैसे आगे बढ़ने लगा उस पाठ्य सूची की अपूर्णता और अन्यान्य समस्याएं उठने लगीं। फलस्वरूप मुझे अपने अध्ययन-कक्ष के एकांत से निकलकर पुस्तकालय के विस्तृत प्रांगण में निकल आना पड़ा, विशेष रूप से उससे भी धूल-धूसरित अंचलों में। अपने अध्ययन की पथरेखा की सीमा में अपने खातों के पन्नों में दर्ज करता जा रहा था। उसके बाद 1976 में रवीन्द्रनाथ की 'तोमार सृष्टिर पथ रेखेछो आकीर्ण करि विचित्र छलना जाले' इस कविता पर पहुंचा तब मुझे दिखाई दिया कि मेरा पढ़ने का पथ भी विभिन्न अप्रकाशित और अव्यहृत तथ्यों द्वारा कंटकाकीर्ण है, मेरे पास बहुत से खाते जमा हो गए थे। उन खातों के ढेर को लेकर मुझे कोई विशेष सिरदर्द नहीं था, सोच रहा था वजन के हिसाब से रद्दी में बेच दूंगा किंतु मेरे मित्र अरूप रतन भट्टाचार्य ने यह नहीं होने दिया और मुझे एक कठोर व्रत में लगा दिया उसी की परिणति इस ग्रंथ में हुई है।

उसके बाद लेखक ने 'रविजीवनी' की रचना प्रारंभ की कवि शंख घोष के विपुल उत्साह और मार्गदर्शन में। उन्होंने ही इस ग्रंथ का नामकरण संस्कार किया। शंख घोष ने स्वयं इस ग्रंथ के बारे में आनंद बाजार पत्रिका में अपने एक लेख में लिखा 'रवीन्द्रनाथ के जीवन के बारे में जानने के लिए हम लोग बहुत दिनों से विवशतापूर्वक निर्भर थे प्रभातकुमार के ऊपर, प्रारंभिक उनकी इस सुकृति के कारण हमारे ऊपर उनके ऋण की भी कोई सीमा नहीं है, किंतु, रवीन्द्र के बारे में और भी जानने की सीमा तो उसके बाद भी बढ़ती ही जा रही है। अपनी दृष्टि से रवीन्द्रनाथ की रचनाओं का धारावाहिक अनुशीलन करते हुए प्रशांत कुमार को अपने अनेक प्रश्नों का उत्तर और मीमांसा प्रभातकुमार के इतिहास में नहीं मिली, उनको लगा कि इतिहास की खाली जगहों को भरने के लिए और भी व्यापक आयोजन की आवश्यकता है, और एक पाठक के रूप में अपने उन प्रश्नों का उत्तर खोजते-खोजते वे खुद ही रवीन्द्रनाथ के जीवनी लेखक हो गए, प्रभातकुमार की चार खंड वाली रवीन्द्र जीवनी के स्थान पर हमारे हाथों में आ गया 'रविजीवनी' जैसा एक विशाल महल।'

प्रशांतकुमार पाल ने रवीन्द्रनाथ के एक-एक वर्ष पर एक-एक अध्याय लिखकर अब तक नौ खंड लिख डाले हैं किंतु नवें खंड में वे रवीन्द्रनाथ के जीवन की 1925 ईस्वी तक की अवधि तक पहुंचे हैं उसके पश्चात अभी उन्हें 11 खंड और लिखने थे किंतु विधाता ने उन्हें हम से छीन लिया और रवि जीवनी जैसा विशाल ग्रंथ वे पूरा नहीं कर पाए किंतु जितना भी वे लिख गए हैं वह रवीन्द्रनाथ को जानने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। रवि जीवनी का पहला खंड 1982 में निकला था। तब प्रभात कुमार जीवित थे और उन्होंने इस पर संतोष व्यक्त किया था।

प्रभातकुमार की जीवनी के संबंध में एक बार बुद्धदेव वसु ने लिखा था : एक अमृत पुत्र के मर्त्यरूप के बारे में तभी हम स्वाभाविक रूप से सोच पाते हैं जब काल के अंतराल से बहुत से अवांतर तथ्य उसके आसपास से झर जाते हैं, और उसके संबंध में सारे तथ्यों के प्रकाशन में भी कोई बाधा नहीं रह जाती है। इसलिए रवीन्द्रनाथ को संभवतः दीर्घकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी..... कम-से-कम तब तक जब तक 'रवीन्द्र जीवनी' परिवर्धित होने के बाद भी, नए तथ्यों के अनुरूप कोई दूसरा ग्रंथ प्रकाशित नहीं होता है'..... बुद्धदेव वसु के रवि जीवनी के पहले खंड के प्रकाशन के चालीस वर्ष पहले कहे गए इस कथन की पूर्ति प्रशांत कुमार पाल के इस ग्रंथ के माध्यम से हुई।

रवीन्द्रनाथ का अवसान 1941 ईस्वी में हुआ था। तब से अब तक उनके अवसान को 60 वर्ष हो गए हैं और हम उनकी 150 वीं जयंती के अंतिम चरण में पहुंच गए हैं। तब से अर्थात् इन साठ वर्षों में बंगाल में ही रवीन्द्रनाथ पर क्या काम हुआ है और वह कितना विस्मयकर है उस पर एक सरकारी निगाह डालने के बाद हिंदी जगत् रवीन्द्र विषयक अपने अभाव और उसकी पूर्ति के लिए अपने कर्तव्य-पथ का निर्धारण कर सकता है। 1961 के बाद रवीन्द्रनाथ पर बांग्ला भाषा में कितना काम हुआ उसका लेखा-जोखा एक लंबी चर्चा का विषय है, उस विस्तार में न जाकर संक्षेप में दो-चार बिंदुओं पर चर्चा करने से ही उन पर हुए कार्य की महत्ता, उसके पीछे निहित कार्य करने वालों के दीर्घकाल-व्यापी अध्यवसाय तथा निष्ठा का अंदाजा लगाया जा सकता है।

जो बांग्ला पत्रकारिता के इतिहास से परिचित है उन्हें पता होगा कि दैनिक आनंद बाजार पत्रिका की शुरुआत 1922 ईस्वी में हुई थी तब रवीन्द्रनाथ जीवित थे और वे 1941 ईस्वी तक जीवित रहे इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 1922 ईस्वी से लेकर 1941 ईस्वी तक रवीन्द्रनाथ से संबंधित जितने भी समाचार, उनके वक्तव्य, उनसे संबंधित जितने भी विवरण आनंद बाजार पत्रिका में निकले इनका सुसंपादित, ब्यौरेवार संकलन आवश्यक प्रसंगों के उल्लेख के साथ 'रवीन्द्र प्रसंग' शीर्षक से प्रकाशित ग्रंथ के चार खंडों में हुआ है। और इस ग्रंथ को प्रस्तुत करने का श्रेय चित्तरंजन बंधोपाध्याय को है। वैसे तो इसके सभी खंड महत्त्वपूर्ण हैं किंतु इसका चौथा खंड सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह रवीन्द्रनाथ के अंतिम दिनों का सटीक ब्यौरा देता है। उनकी बीमारी से देश में कैसी हलचल मच गई थी, बंगाल के अलावा देश-विदेश से कैसी शुभेच्छाएं उनके दीर्घजीवन के लिए आने लगी थीं.....यही सब। इसके अलावा इस खंड में दो सूचियां अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। वे रवीन्द्रनाथ के समकाल के इतिहास को व्यापक फलक पर चिन्हित करती हैं। 1861 से लेकर 1941 तक विश्व में कौन-कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं उनका तिथिवार विवरण, दूसरी सूची में आनंद बाजार पत्रिका में रवीन्द्रनाथ-संबंधी समाचारों में जिन देशी-विदेशी व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है उनका संक्षेप में सटीक परिचय व उनके अवदान का उल्लेख किया गया है। पहली सूची का शीर्षक है 'रवीन्द्र काजपंजी'। इसमें रवीन्द्रनाथ के जीवन की वर्षवार घटनाएं तथा वे कब कहां गए, किससे मिले, कब-कौन ग्रंथ प्रकाशित हुआ.....इसका विवरण है। इसके दूसरे भाग में देश-विदेश में कौन-सी घटनाएं घटीं इसका विवरण है। इससे उस परिवेश का पता चलता है जिसमें रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा सक्रिय रही और जिसके प्रकाश में रवीन्द्रनाथ के जीवन और उनकी सृष्टि को समझने में पाठकों को सहूलियत होगी। हिंदी की दृष्टि से 'व्यक्ति-परिचिति' में हिंदी के तीन लेखकों का उल्लेख है : प्रेमचन्द, बनारसीदास चतुर्वेदी और हजारी प्रसाद द्विवेदी। इसमें 'गोदान' कब प्रकाशित हुआ इसका

भी उल्लेख है।

इस पुस्तक के 2364 पृष्ठों के चार खंडों में रवीन्द्रनाथ का हमें वह परिचय मिलता है जो उनकी रचना-सृष्टि में नहीं है। उन्होंने लिखा है : 'मैं अपना आधा परिचय लेकर बांग्लादेश आया था। मैं जानता हूँ कि लोग मुझे वाणी का साधक समझते हैं। वे यही जानकर यहीं रुक जाते हैं। इसके बाद जिस किसी अन्य साधना के लिए मेरे देश ने मुझे पुकारा है उस संबंध में खबर पहुंचने में उनके पास देरी हुई है'। चार खंड वाले इस रवीन्द्र प्रसंग ग्रंथ में चित्तरंजन बंधोपाध्याय ने रवीन्द्रनाथ का वह परिचय देने का प्रयास किया है। इसी तरह का महत्त्वपूर्ण काम किया है नेपाल मजूमदार ने अपने ग्रंथ 'भारते जातीयता ओ अंतर्जातीयता एवं रवीन्द्रनाथ'- भारत में राष्ट्रीयता और अंतरराष्ट्रीयता तथा रवीन्द्रनाथ - के छह खंडों में।

रवीन्द्रनाथ पर काम करने का उत्साह यहीं थम नहीं गया है। उन पर अभी हाल में एक अद्भुत ग्रंथ प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है : 'देश पत्रिकाय रवीन्द्र चर्चा' लेखक हैं श्यामा प्रसाद चट्टोपाध्याय। इस ग्रंथ में 1933 से लेकर 31 अक्टूबर 1992 (जब तक 'देश' साप्ताहिक पत्रिका रही तब) तक रवीन्द्रनाथ संबंधी जितने भी पत्र, लेख, कविता, उनके ऊपर लिखी पुस्तकों की समीक्षाएं छपीं उनका तिथिवार ब्यौरा संक्षिप्त सार और टिप्पणी के साथ लेखक ने प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ का पहला संस्करण 2005 ईस्वी में निकला था। इसकी भूमिका में लेखक ने लिखा है : उन्नीसवीं शताब्दी में जैसे 'बंगदर्शन', बीसवीं शताब्दी प्रथमार्ध में जैसे 'प्रवासी' ने, वैसे ही 1933 ईस्वी से आज तक 'देश' पत्रिका ने बाङ्ला साहित्य-संस्कृति की सेवा करते हुए, बाङ्ला साहित्य-संस्कृति के इतिहास में स्थायी आसन प्राप्त कर लिया है। बंग भाषा में अत्यंत मर्यादा संपन्न तथा शिक्षित बंगाली भाषियों के लिए अपरिहार्य 'देश' पत्रिका ने रवीन्द्र अनुशीलन और चर्चा के क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण विरासत की सृष्टि की है। पत्रिका का प्रारंभ रवीन्द्रनाथ के जीवनकाल में होने से यह उनसे अनेक गद्य-पद्य रचनाएं पाकर धन्य हुई थी। तब से लेकर अब तक इन उन्नयासी वर्षों में अविच्छिन्न रूप से रवीन्द्र चर्चा की धारा को उसने सदा अव्याहत रखा है और विषय वैचित्र्य और नवीनता के साथ जिस ऐश्वर्य की सृष्टि की है वह अतुलनीय है। बाङ्ला भाषा में 'प्रवासी' और 'देश' इन दो पत्रिकाओं ने काल की व्यापकता और प्रचुर परिमाण में रवीन्द्र अनुशीलन के क्षेत्र में जो विशिष्टता अर्जित की है, उसके साथ तुलना की जा सके ऐसी पत्रिका दूसरी नहीं है। अब तक उन पर 1100 से अधिक निबंध 'देश' पत्रिका में छप चुके हैं। उनके संबंधों में 'चिठिपत्र' स्तंभ में चर्चा भी हुई है। समसामयिक 500 से अधिक रवीन्द्र-संबंधी ग्रंथों की ग्रंथालोक स्तंभ में समीक्षा भी हुई है। 2100 से अधिक रवीन्द्रनाथ के पत्र, तीन सौ से अधिक दुर्लभ रचनाएं इसमें प्रकाशित हुई हैं। रवीन्द्र संगीत और नृत्यानुष्ठानों का विवरण, रवीन्द्र संगीत के रेकार्ड और कैसेट, रवीन्द्र नाट्य और चलचित्रों की समालोचना इसमें लिपिबद्ध हुई है और इसके साथ ही रवीन्द्रनाथ को केंद्र बनाकर लिखे गए हैं शताधिक संपादकीय अग्रलेख।

इस प्रकार इस ग्रंथ के पांच खंडों में रवीन्द्र-विषयक संपादकीयों, रवीन्द्र रचना और उनकी पत्रावली, रवीन्द्र-विषयक कविताएं, रवीन्द्र-विषय के प्रबंध-निबंध, रवीन्द्र-विषयक ग्रंथों की समालोचना और परिशिष्ट में इस सारी समाग्री की अकारादि क्रम से सूची दी गई है जिसे पाठक सुविधा से इस ग्रंथ के तत्तद पृष्ठों में देख सकते हैं। इस ग्रंथ की सीमा 1933 से लेकर 1992 अर्थात् 60 वर्षों तक

फैली हुई है। उसके बाद 1993 से 2012 पाक्षिक देश में रवीन्द्रनाथ विषयक जो सामग्री छपी है उसका विवरण इस ग्रंथ के दूसरे भाग में अपेक्षित है। बांग्ला में रवीन्द्रनाथ के अनुशीलन का काम यहीं तक रुका नहीं है। उनकी 150 वीं वर्षगांठ को ध्यान में रखकर और भी तीन-चार महत्वपूर्ण ग्रंथ निकले हैं।

रवीन्द्रनाथ एक यात्री थे....सतत भ्राम्यमान। देश-विदेश की उन्होंने कई बार यात्राएं की। इन यात्राओं का सर्वाधिक पूर्ण विवरण निकला है 'अमि यात्री' ग्रंथ में। इसका संपादन किया है मित्रसूदन भट्टाचार्य ने। इस ग्रंथ के तीन खंडों में रवीन्द्रनाथ के संपूर्ण यात्रा वृत्तांत, उन यात्राओं के बारे में रवीन्द्रनाथ का आत्मकथन तथा यात्रा पथ पर रची गई संपूर्ण कविताओं के विवरण के साथ प्रकाशन हुआ है। इसमें उनकी देश-विदेश में की गई यात्राओं के सारे प्रसंग एक ही स्थान पर आ गए हैं इसके साथ ही एक पुस्तक और प्रकाशित हुई 'पत्र-पत्रिकाय रवीन्द्र प्रसंग'। इसका संपादन किया है नन्दिता वंद्योपाध्याय ने। गत एक सौ वर्ष में विभिन्न मासिक पत्र-पत्रिकाओं में रवीन्द्रनाथ किस प्रकार प्रतिफलित हुए थे उसे स्मरण और उसके संरक्षण को ध्यान में रखकर इस पुस्तक के तीन खंड रवीन्द्रनाथ की 150 वीं जयंती पर प्रकाशित किए गए हैं।

इसके अलावा रवीन्द्रनाथ की संपूर्ण कविताओं का एक पांच खंडों में सुसंपादित संस्करण भी देखने में आया है। इसका संपादन किया है अनाथनाथ दास ने। कई दृष्टियों से यह संकलन अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें रवीन्द्रनाथ के जीवनकाल में प्रकाशित कविताएं तो हैं ही उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित कविताएं भी संकलित की गई है। इसके साथ-साथ हर पांडुलिपि का परिचय, रंगीन चित्र, कवि की हस्तलिपि के चित्र, कई काव्यों के रवीन्द्रनाथ के साथ अन्य कई चित्रकारों द्वारा आंके गए चित्र दिए गए हैं।

अभी तक रवीन्द्रनाथ के चित्रों के छिटपुट संग्रह मिलते थे। इस बार उनके समस्त चित्रों को चार खंडों में प्रतिक्षण ने विश्वभारती और केंद्र सरकार के संस्कृति मंत्रालय के सौजन्य से छापा है।

हिंदी में 150 वीं रवीन्द्र जयंती पर कुछ पत्रिकाओं ने उन पर सामग्री छापी, उनकी रचनाओं के कुछ अनुवाद भी आए किंतु जितनी गंभीरता से बांग्ला की 'देश', 'अनुद्युप' तथा 'कोरक' पत्रिका ने उन पर सामग्री दी उतनी हिंदी की कोई पत्रिका नहीं दे सकी।

व्यक्तिगत प्रयत्नों से जर्मन विद्वान मार्टिन कैम्पशेन तथा आलोकंजन दास गुप्त ने जर्मनी में, विलियम रोदिचे तथा केतकी कुशारी डाइसन ने अंग्रेजी में रवीन्द्र रचनाओं का अनुवाद और उनका विश्लेषण कर रवीन्द्रनाथ को पाठकों के विशाल समुदाय तक पहुंचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि बांग्ला में रवीन्द्रनाथ पर जैसा महत्वपूर्ण और समय की मांग के अनुसार काम हुआ है क्या वैसा कार्य हिंदी में हुआ है। अथवा रवीन्द्रनाथ पर बांग्ला में जो कार्य हुआ है उसकी प्रेरणा से हिंदी के किसी रचनाकार पर हम वैसा काम कर सके हैं। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी अथवा उनके बाद के कवियों पर। हमारा काम सिर्फ रचनाकारों की ग्रंथावलियों के प्रकाशन तक सीमित है। प्रेमचंद पर कमल किशोर गोयनका ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से महत्वपूर्ण काम किया। उनके अप्राप्य साहित्य के दो खंड प्रकाशित कराए किंतु उनके जिस विश्वकोश का उन्होंने संकल्प लिया था उसे वे पूरा नहीं कर सके। अकेले प्रयास से विश्वकोश जैसे ग्रंथ की रचना की भी नहीं जा सकती है। हिंदी में किसी भी लेखक पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में जो सामग्री निकली

उसकी आज तक कोई सूची उपलब्ध नहीं है।

अब पुनः रवीन्द्रनाथ पर आते हैं। क्या रवीन्द्रनाथ की संपूर्ण रचनावली का हिंदी में अनुवाद किया जा सकता है? अभी तक उनकी संचयिता या गीत वितान का भी पूरा अनुवाद उपलब्ध नहीं है। रवीन्द्र रचनावली 27 खंडों में है दो खंड अचलायतन के हैं। उनकी रचनावली में न तो उनके पत्र सम्मिलित हैं न उनका गीत वितान। कार्य बड़ा है लेकिन अभी तक साहित्य अकादेमी को मिलाकर केंद्र सरकार के संस्कृति विभाग ने गुरुदेव की समस्त रचनावली के हिंदी अनुवाद की कार्ययोजना अपने हाथ में नहीं ली है। यह कार्य एक 'टीमवर्क' जैसा है। मिशनरी भावना से ही यह कार्य संपन्न किया जा सकता है। यह कार्य असंभव नहीं है, दीर्घकाल व्यापी और अध्यवसाय सापेक्ष है। धैर्य भी चाहिए और संगठित प्रयास भी। इस संबंध में एक जापानी विद्वान का उदाहरण उल्लेखनीय है.....जापानी विद्वान रवीन्द्र भक्त काजुओ अजूमा (1932-2011) का नाम हम लोगों ने सुना होगा। उन्होंने रवीन्द्रनाथ की एक अपूर्ण इच्छा 1972 ईस्वी में पूरी की। उन्हीं के प्रयास से उसी वर्ष 'जापान इंडिया टैगोर एसोसिएशन' की स्थापना हुई। उन्होंने 1967 से 1972 तक विश्वभारती में अध्यापन भी किया था। जापान में रवीन्द्र चर्चा और उनके प्रचार-प्रसार के वे अद्वितीय पथ प्रदर्शक थे। उन्होंने बांग्ला से सीधे-सीधे जापानी भाषा में रवीन्द्रनाथ का अनुवाद भी किया था। 1973 ईस्वी में कई जापानी शोधकर्ताओं को लेकर उन्होंने साहित्यकारों का एक दल तैयार किया और उसकी सहायता से रवीन्द्रनाथ की रचनावली का अनुवाद कार्य भी उन्होंने प्रारंभ कर दिया। उसके बाद वे लगातार 20 वर्षों तक इस यज्ञ का संचालन करते रहे। इस कार्य के महत्व को समझकर उन्हें विश्व भारती द्वारा देशकोत्तम उपाधि, रवीन्द्र पुरस्कार के साथ मानद डी. लिट् की उपाधि दी गई।

जापानी भाषा बहुत कठिन है लेकिन हिंदी और बांग्ला दोनों ही अर्ध मागधी से निष्पन्न हुई हैं। दोनों की आधे-से-अधिक शब्दावली समान है। फिर किस बात की कमी है! कमी है हमारे संकल्प और निष्ठा की। इसलिए मेरा कहना है हिंदी में अभी हमने रवीन्द्रनाथ को छुआ भर है। उनको समग्र रूप से जानना शेष है। इसलिए हिंदी में जैसे शेक्सपियर की, गेटे की, कालिदास की, तुलसी की, कबीर की अभी भी अध्ययन की संभावनाएं बनी हुई हैं वैसे ही रवीन्द्रनाथ की भी संभावनाएं बनी हुई हैं।

हाल ही में आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल से प्राप्त सूचना के अनुसार भारत सरकार के संस्कृति विभाग ने रवीन्द्रनाथ की समग्र ग्रंथावली के हिंदी अनुवाद का काम सस्ता साहित्य मंडल तथा साहित्य अकादेमी के युग्म सहयोग से कराने की योजना बनाई है। निदेशक के रूप में इस योजना का काम पालीवाल देख रहे हैं। इस योजना के अनुसार रवीन्द्रनाथ की समग्र रचनाएं हिंदी में 50 खंडों में निकलेंगी।

●
(लेखक बांग्ला साहित्य के अध्येता हैं)

बदलाव का सामना

के. हरिहरन

अनुवादक : जनार्दन एवं राकेश कुमार सिंह

1980 के मध्य राजीव गांधी के नेतृत्व में भारतीय राजनीतिक अर्थ नीति में उदारवाद एवं फिल्मकार के रूप में मणिरत्नम का आविर्भाव साथ-साथ हुआ परंतु, मणिरत्नम की फिल्मों में राजीव गांधी की उदारवादी नीतियों, परिणामों के प्रभावों के अध्ययन की कोशिश करना अति-साधारण एवं एक-आयामी माना जाएगा। इसके अलावा यह मान लेना कि उस समय भारतीय शासन को आधार प्रदान करने के लिए राजीव गांधी व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार हैं, को ऐसा मान लेना है, जैसे दर्शकों पर फिल्म के समग्र प्रभाव के लिए सिर्फ निर्देशक जिम्मेदार होता है। फिर भी, इस सहमति से फिल्म के बिंबों एवं कथनों के अध्ययन में सुविधा होती है, जिससे एक विशेष समय में राष्ट्र की राजनीतिक अर्थनीति की व्याख्या हो पाती है।

राजीव गांधी एवं उदारीकरण से संबंधित मुद्दों की बेहतर समझ के लिए हमें बीते दौर की तरफ फिर से देखना चाहिए। मद्रास फिल्म उद्योग में फिल्म निर्माण के क्षेत्र में मणि के पिता और उनका वीनस स्टूडियो महत्वपूर्ण स्थान रखते थे क्योंकि सवाक् फिल्मों के समय से ही (1930 से) मुंबई की तुलना में ये फिल्म निर्माण के क्षेत्र में तेजी से आगे बढ़े और सभी भारतीय भाषाओं में फिल्में बनाकर अखिल भारतीय स्तर पर फिल्मों के वितरण के लिए बाजार की व्यवस्था की। तमिल सिनेमा इस विस्तृत राष्ट्रीय मद्रास फिल्म कम्पनी एक हिस्सा मात्र था। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि मणिरत्नम ने धीरे-धीरे विकसित होते भारतीय सिनेमा को बारीकी से देखा है। इसी क्रम में उन्होंने सिनेमा पर पड़ने वाले ऐतिहासिक-वैश्विक प्रभावों को गंभीरता से महसूस किया है लेकिन, सवाल यह है कि पुराने से नए होते हुए परिवर्तन को वे किस दृष्टि से देखते हैं।

सन् 1950 में जब प्रधानमंत्री नेहरू ने एक राजनीतिक के रूप में समाजवादी नीति का चयन किया तो इसका प्रभाव हमारी लोकप्रिय फिल्मों, पारिवारिक मूल्यों, औद्योगिक प्रकृति की स्वीकृति एवं नगरीय शिक्षा के प्रोत्साहन पर पड़ा। महबूब खान की 'मदर इंडिया' में प्रस्तुत सामंती वर्ग की दुल्कार, राजकपूर की 'आवारा' में शिक्षित व्यक्ति के विशेषाधिकार, एस.एस. वासन की 'व्यवस्थित स्टूडियो प्रणाली' तथा आधुनिकतावादी रीतियों को प्रोत्साहित करने वाली फिल्मों जैसे सत्यजित राय की 'अप्पू ट्राईलॉजी' जिसमें रेलगाड़ी और शहर की जरूरत महसूस की गई है, को देखते हुए हम स्पष्टतः नेहरू के प्रभाव को देख सकते हैं। ये सभी संदर्भ यह संकेत करते हैं कि ये फिल्मकार

नेहरूवादी/सोवियत आधुनिकता, धर्म निरपेक्षता में विश्वास तथा पूर्ण-औद्योगिक वामपंथी झुकाव के उत्कर्षात्मक अनुष्ठानों के विचारों एवं बिंबों को कैसे देखते हैं?

हॉलीवुड फिल्मों के प्रतिक्रिया स्वरूप गीतों, नृत्यों एवं आद्य संदेशों वाली आंतरिक मसाला प्रवृत्ति के विकास क्रम में मणि ने मुख्यधारा के भारतीय सिनेमा को प्रोत्साहित करने का गुर सीखा। एक नए राष्ट्र के विकास के समय मिथकीय प्रवचनों के कार्यान्वयन से इस सिनेमा में वर्ग, जाति एवं सामुदायिक आग्रहों को बढ़ावा मिल रहा था। संभावित रूप से बुद्धिजीवी वर्ग इस परीकथा वाली फिल्मों के नाच-गाने, थकाने वाली अति-अभिनेता एवं साधारण तकनीकी गुणवत्ता से उकताकर इनकी निंदा करने लगा और धीरे-धीरे सत्यजित राय, विमल राय की यथार्थवादी फिल्मों की ओर उन्मुख हुआ। इसी दौरान खुले राजनीतिक भ्रष्टाचार के साथ-साथ लाइसेंस राज एवं इंस्पेक्टर राज आने के बाद अच्छे और बुरे सिनेमा का ध्रुवीकरण आवश्यक हो गया।

आपातकाल (1975) की संकटपूर्ण अवस्था के प्रतिक्रियास्वरूप एक नई धारा (न्यू वेब) पूरे देश में फैल गई, जिसे स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के फिल्मकारों ने विकसित किया था। इस धारा के फिल्मकारों द्वारा इंदिरा गांधी की तानाशाही का प्रतिरोध किया गया। श्याम बेनेगल से लेकर भारती राजा तक, जान बरुआ से लेकर गिरीश काशरवल्ली तक, केतन मेहता से लेकर पद्म राजन तक की फिल्मों में नेहरूवादी सिद्धांत वाली मसाला फिल्मों का मुखर प्रतिरोधी स्वर कोई भी सुन सकता है। इन स्वरों को दो मजबूत अंतरधाराओं की पृष्ठभूमि में संदर्भित किया गया है :

(क) विश्व भर में सोवियत प्रणाली के खिलाफ का तीव्र प्रतिरोध, भारतीय अर्थनीति के सहायकों का भी तीव्र प्रतिरोध। (ख) 1975 के आपातकाल के दौरान, पूरे देश में उभरते दक्षिणपंथी हिंदुत्ववादी एवं 9 वर्षों की अव्यवस्था के बाद श्रीमती गांधी की 1984 में हत्या और सहानुभूति के आवेग में उनके पुत्र राजीव गांधी की प्रधानमंत्री के रूप में ताजपोशी, जिसने राजीव गांधी को देश का भाग्यविधाता बना दिया की वास्तविक पड़ताल।

ऐसी परिस्थितियों में ही मणिरत्नम ने पहले से चले आ रहे भावुकतापूर्ण मुख्यधारा के सिनेमा एवं औपचारिक सनकी ग्रामीण पृष्ठभूमि वाले नई धारा के सिनेमा का संयोजन किया। इस चरण में प्रवेश के पश्चात यह समस्या बनी रही कि राष्ट्रव्यापी आरोपित अति-नाटकीयता एवं भावुकता का सामना बिना अति नाटकीय हुए कैसे किया जाए?

मेरी इस बात से पूरी सहमति है कि एक सफल फिल्मकार वह होता है जो अपने परिवेश में व्याप्त राजनीतिक अर्थनीति की विभिन्न अंतरधाराओं को समझे और उनसे समकालीन पाठ का पुनर्सृजन करे। मणिरत्नम की फिल्मों में नेहरूवादी, समाजवादी सिनेमा से लेकर राजीव गांधी युग की नव पूंजीवादी, उदारवादी उपक्रमों एवं परिस्थितियों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। रेलगाड़ी, जो सत्यजित राय की 'पाथेर पांचाली' में सुखद जीवन के परिदृश्य को परोसती है, 'दिल से' में जहां शाहरुख खान नाचते हैं, 'मदर इंडिया' में नर्गिस द्वारा फसल रोपने का उत्सव है, मधु द्वारा 'रोजा' फिल्म में हरे-भरे मैदान में अठखेलियों तक एवं एस.एस. वासन के जैमिनी स्टूडियो की सुजाता फिल्म्स (भारत की प्रथम पब्लिक फिल्म कंपनी) से होते हुए, राजकपूर की 'आवारा' से लेकर अयीथा ईजुथु (Ayitha Ezhuthu) के सड़क के योद्धा माधवन तक में, क्या कुछ निश्चित आंदोलन नहीं दिखता? जब हम 1984 और 1991 के उदारीकरण की कल्पना करते हैं तो उसके

प्रभाव को फिल्मों में किस स्तर का पाते हैं?

पहली बार उदारीकरण में उदारवादी स्वतंत्र बाजार के अर्थनीतिक प्रतीकों की आकर्षक खरीदारी वाली गैलरियों को देखा गया। इसके परिणामस्वरूप विज्ञापन के संसार को व्यापक स्तर पर बढ़ावा मिला, जहां उत्पाद की छवि प्रायः स्वयं उत्पाद से अधिक मोहक थी। मणिरत्न ने अपनी फिल्मों में इन छवियों एवं प्रवृत्तियों को असाधारण महत्व देकर पेश किया। उच्च-प्रशिक्षित एवं स्वतंत्र चेतना के छाया-चित्रकारों, जैसे-बाल महेंद्र, पी.सी. श्रीराम, संतोष सीवान, राजीव मेनन एवं रवि के. चंद्रन के साथ उन्होंने विशेष प्रकार के अनुकूलित स्वरूप को अपनी फिल्मों में दिखाना सुनिश्चित किया। आश्चर्यजनक रूप से उनके अधिकांश कैमरामैन स्वयं में स्थापित विज्ञापन फिल्म निर्माता हैं।

इन फिल्म छायाकारों की उपस्थिति से फिल्म के स्वरूप पर फर्क पड़ता है, क्योंकि वे फिल्म की कहानी के भावात्मक तंतुओं की गतिशीलता को प्रायः भंग करते हैं। 'अग्निनटचरितम' या 'गीतांजलि' जैसी फिल्मों में तीक्ष्ण पृष्ठभूमि वाले प्रकाश एवं तारों से जड़ित कुहरे के प्रयोग वाले बिंब दर्शकों को परिचित से लगते हैं और आकर्षित करते हैं। 'इरुवर' में घूमते कैमरे की गतिविधियां एवं विशेष उपयोग वाली सिनेमाई त्रिभंगिमाएं हमें सचेत करती हैं। फिल्म 'कनाथिल मुथामित्तगल' का एक दृश्य, जहां कैमरा माधवन और उसकी पुत्री के इर्द-गिर्द चारों तरफ घूमता है, जो प्रकट कर देता है कि वह लड़की उसकी जैविक संतान नहीं है। ये सभी स्वयं में यादगार दृश्य हैं।

घटनाक्रम की गैर-परंपरागत कल्पना की स्व-जागरूकता वास्तव में एक न्यूनतम मानदंड है, जिसकी ओर बहुत से युवा फिल्मकार मणिरत्न के माध्यम से प्रवृत्त हुए हैं। लुमिअर बंधुओं के नब्बे साल बाद मणि की फिल्मों में नए साम्राज्यवादी भारत की चल संपत्ति की वास्तविकता प्रकट हुई है। ये वास्तविकताएं वैसी ही नहीं हैं, जैसी गुरुदत्त या श्रीधर के यहां कभी देखा गया था। यह भावात्मक अभिव्यक्ति को दर्शाने वाली मनोदशा नहीं थी किंतु बिंब की प्रक्रिया जरूर थी जिससे इसे एक बेहतरीन कारक के रूप में प्रयुक्त करके ध्यान आकर्षित किया जा सका। ये बिंब उस उपभोक्ता की तरह थे जो उदारवादी बाजार से चेतना प्राप्त कर, बिना किसी जायज जरूरत के प्रदर्शन युक्त उत्पाद खरीदने जाता है।

दूसरे, उदारीकरण का राजनीतिक अर्थशास्त्र राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय सीमाओं की विचारधारा को खारिज करता है और तथाकथित वैश्विक मंच पर बाजार को स्थापित करने की कोशिश करता है। इसे अपनाने के लिए मणि ने अपनी सभी फिल्मों को प्रायः एक कस्बाई रंगत देने का निश्चय किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने उस क्षेत्रीय ढांचा, जो पूर्व के न्यू वेब सिनेमाकारों का प्रमाण-चिह्न था, को विशेष अर्थ में ग्रहण कर अपने चरित्रों को अखिल भारतीय स्वरूप दिया। 'मौन रागम्' (1986) से आगे की उनकी अधिकांश फिल्में तमिलनाडु की सीमा का अतिक्रमण करती हैं और दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, बंगलुरु एवं मैसूर जैसे शहरों में दिखाई जाती हैं। उनकी फिल्मों के चरित्र विशेषतः स्त्रियां एक विशेष प्रकार के रंग में रंगी हुई हैं, जिनका संबंध उच्च मध्य वर्ग के कस्बाई शिक्षित परिवार से जुड़ा होता है। ये स्त्रियां कामरेडों के बिना किसी सहयोग से, अपने कदम आगे बढ़ाती हैं। मणिरत्न की फिल्मों के ऐसे अनुभव, इलैयाराजा एवं ए.आर. रहमान दोनों को क्षेत्रीय सीमाओं से आगे बढ़ने एवं विस्तार के लिए प्रेरित करते हैं। ये दोनों रैप, हिप-हाप तकनीकी की दुर्गंध यहां तक कि कुलीन सूफियाना विकृति के क्षेत्रीय साज से परे जाकर डिजिटल साउंड के तकनीकी स्पेक्ट्रमों का उपयोग करते हैं।

मुझे याद है, थालापाती (Thalapathi) को देखते हुए विख्यात सिने-विद्वान 'डुडले एण्ड्रेव' ने कहा था, 'यह इतनी उत्तर आधुनिक है कि परंपराओं को तोड़कर बहुत सी नवीन विघटनों का सृजन करती है।' मैंने उनसे पूछा, 'यह फिल्म महाभारत के चरित्रों का उत्तर आधुनिक संस्करण थी तो इसे विघटन कैसे माना जा सकता है?' क्या ऐसा इसलिए था क्योंकि सूर्य/कर्ण और उसके स्वामी देवराज/दुर्योधन तनहा गैंगस्टर्स की तरह न्यूनतम सामाजिक-आर्थिक संदर्भों के साथ चित्रित किए गए हैं? इस फिल्म में, इन स्वी-तृप्तिदायक हुल्लड़बाजों का क्रोध किधर था?

समानांतर रूप से वैश्विक होते भारत की वास्तविक समस्या, शक्तिशाली कारपोरेट उपक्रमों एवं उदारीकरण में दक्षिणपंथ के मध्य, प्रकट होते संदिग्ध संबंधों से है। प्रसिद्धि प्राप्त करने के क्रम में सांप्रदायिक ताकतों, धार्मिक संस्थानों एवं धर्मविधियों का राजनीतिकों द्वारा खुला प्रदर्शन बढ़ा है। संक्षेप में धार्मिक होने का अर्थ शांत एवं प्रेमिल होना है। इसलिए धर्मनिरपेक्ष देश की शांतिपूर्ण धार्मिक दृढ़ता 'रोजा', 'बॉम्बे', 'दिल से' या 'कनाथील मुथामित्तल' जैसी फिल्मों में वैश्वीकरण एवं उदारवादी अर्थनीति के विचार के साथ कुछ विरोधात्मक रूप में दिखाई देती है जो सार्वजनिक सेवाओं का जोर-जोर से ढिंढोरा पीटने जैसा लगता है।

हमारे समक्ष तीसरा सवाल यह खड़ा होता है कि जब मृत पूंजीवाद/उदारवाद जिसका सामना हम भारत में करते हैं, वह प्राथमिक स्तर पर श्रमिक वर्ग का विरोधी है। इस स्थिति में फिल्मों में क्या होता है, जहां पिता अपने ऑफिस या फैक्ट्री से श्रमिक वर्ग की समस्याओं व विवादों के साथ घर लौटता है? उस मां का क्या होता है, जो अस्तित्व के लिए संघर्ष करती है और कपड़े सिलने के लिए सिलाई मशीन पर जोर-जोर से पांव चलाती है?

एक उग्रपंथी हिंदू संगठन ने बॉम्बे के कपड़ा मिल के श्रमिकों के वामपंथी यूनियन को तहस-नहस कर दिया है। 1970 के बाद स्थानीय उद्योगपतियों के सहयोग से पूरे देश के सभी मजदूर संगठनों एवं आंदोलनों को मिटा दिया गया। इसी वजह से 1980 के मध्य जब उदारीकरण के लिए नीति-निर्माण की घोषणा की गई तो उस समय तक श्रमिक वर्ग की अवधारणा, हमारे समाज और फिल्मों दोनों में पहले से ही कमजोर पड़ चुकी थी। फिल्में अकसर निम्न वर्ग या महत्वाकांक्षी प्रबुद्ध वर्ग पर बनती थीं; जैसे- 'मलीनों का मसीहा', 'थालापाथी' (Thalapathi) या कारपोरेट परिवार के मुखिया की दुविधा वाली फिल्म- 'अंजली'। दिलचस्प बात यह है कि मणि की दूसरी फिल्म 'अनारु' (Unaru 1984) जो मलयालम में बनी थी, ट्रेड यूनियन लीडर पर चर्चा करने वाली फिल्म है। उनकी अगली फिल्म 'गुरु' (2006) थी, जिसमें वे यूनियन लीडर को तुच्छ नायक के रूप में दिखाते हैं। इसी तरह सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति की एकांतीदर्शिता के मध्य प्रत्येक कर्मचारी को, यदि प्रबंधक नहीं तो उपाध्यक्ष के रूप में नियुक्त कर यूनियन प्रणाली को टाल दिया जाता है। यह नया संसार स्वयं साधारण जन से मुक्त हो चुका है। इनके कर्मचारी वातानुकूलित कक्ष में प्रवेश कर कंप्यूटर से लगातार वैश्विक ग्राहकों को सेवा प्रदान करते हैं।

'गुरु' फिल्म पर चर्चा करते हुए अंबानियों की छवि उभरती है; जो राजीव गांधी के उदारीकरण की नीति से उभरी थी। मणि कहते हैं, 'संयम पर चर्चा करते हुए, अपने देशवासियों के लिए कुछ करने के उपक्रम में मैं आगे बढ़ा। आज स्थिति यह है कि यदि मैं अच्छा करता हूं तो सबकी बेहतर शुरुआत होती है। इन 30 वर्षों (196-90) का संक्रमण बहुत सचेत करने वाला है। अभी बहुत कुछ

शेष है, जबकि दूसरे यह सोचते हुए नियमों की परवाह नहीं करते हैं कि अंत सभी मंतव्यों की पूर्ति कर देगा। हम संक्रमण में जी रहे हैं और मैं उन्हें पकड़ने की कोशिश कर रहा हूँ।' क्या मणि की फिल्मों में कई उपपाठ हैं जो नेहरूवादी स्वप्न के शोकगीत का अहसास कराते हैं, जहां नागरिक राष्ट्र/क्षेत्र को स्वयं से पहले रखता था; जहां कर्मशील वर्ग देश की आर्थिक नीति का निर्धारण करता था।

'यदि मैं ठीक करूंगा तो सबकी शुरुआत भी ठीक होगी।' पर यह कैसा संक्रमित जन एवं जनसमुदाय है, जिसे मणिरत्नम संदर्भित कर रहे थे? कोई संदेह नहीं कि किसी बहुराष्ट्रीय मुक्त उपक्रमों की तात्कालिक सोच, बहुत ज्यादा महंगे उत्पादों का बिना जिरह किए उपभोग करने वाले वर्ग को निर्मित करने की है। परंतु क्या इसे समग्र सत्य के पक्ष/मूलभूत स्वप्न के रूप में वर्णित किया जा सकता है? वस्तुतः नहीं, विशेषकर उस वक्त जब हम उदारीकरण के परिणामों को देख रहे हैं जिसमें आज वे सुपर पूंजीवादी यू.एस.ए. एवं सुपर कम्युनिस्ट चीन के बीच अपरिवर्तनीय एवं अश्लील संपर्क का सृजन कर रहे हैं।

दक्षिणपंथी अधिक दक्षिणपंथी दिखते हैं; जब वामपंथी, वामपंथी से बेहतर होते हैं। वैश्विक स्तर पर धर्म निष्ठा के बढ़ने के दौर में भी मणि की फिल्में अपनी अधिकांश समकालीन फिल्मों के साथ आधुनिक समस्याओं के निराकरण के अचूक अस्त्र के रूप में प्रस्तुत नहीं होती। यहां तक कि, जब वे धार्मिक/मिथकीय भाष्य जैसे- महाभारत (थालापाथी) या रामायण (रावण) पर फिल्में बनाते हैं, तब भी।

कुछ सिने-विशेषज्ञ मणिरत्नम की फिल्मों पर सतही होने का आरोप लगाते हैं और उनके बारे में ठंडी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। इतना ही नहीं वे लोग इन फिल्मों को प्रतिगामी मानते हैं, जबकि मैंने मणिरत्नम को ऐसे फिल्मकार के रूप में देखा है, जिसने मुख्यधारा के सामान्यकृत सिनेमा को मानवीय स्वरूप देने के लिए संघर्ष किया है और इन्हें व्यक्ति चरित्र से संपन्न किया है। संभवतः वे ऐसे फिल्मकार हैं जो अनैतिक मानव चरित्रों के माध्यम से कथनों को गंभीरता से संरचित करते हैं। वे व्यापक कैनवॉस पर वास्तविक पृष्ठभूमि में ऐसे प्रेमियों के उथल-पुथल को दिखाते हैं जो सितारे नहीं हैं। इसके बावजूद भी वह ऐसे संसार में रहते हैं जहां ट्रेड यूनियन एक गंदी पदावली के रूप में प्रयुक्त होता है और यूनियन नेता माफिया डॉन के रूप में। यह उदारीकरण का अलिखित एजेंडा था और 1984 के आस-पास कुछ फिल्में स्वयं तथाकथित उद्योगपतियों, नेताओं एवं फिल्म श्रमिकों के बीच चलनेवाले इस संघर्ष का गवाह भी हैं।

इसीलिए जब, कारपोरेटकृत वॉलिवुड आश्चर्य में डालने वाली शाइनिंग इंडिया के मुक्तिदाता एवं नव-उदित अप्रवासी भारतीयों के सहयोग से जीरो फीगर वाली आइटम गर्ल को पूर्वोत्तर यूरोप से आयातित कर, करण जौहर एवं अब्बास-मस्तान की फिल्मों के भव्य लोकेशनों को जगमगाया जा रहा था, तब मणिरत्नम आभासी उदारीकरण एवं संदिग्ध भारतीय नागरिकता पर सवालिया निशान लगा रहे थे। 'कनाथिल मुथामित्तल', 'गुरू' या 'युवा' सभी में वे लगातार मुख्य सिनेमा की उदारवादी आवाज को तीन दशकों से दिखा रहे हैं। उनकी 21 पुरानी फिल्मों की ख्याति/कुख्याति में मुख्यतः मध्यवर्ग उपभोक्तावाद में उनके वैयक्तिक/राष्ट्रीय अस्मिताओं के विलय का प्रामाणिक समाजशास्त्रीय अध्ययन हो सकता है।

(लेखक एल.वी. प्रसाद फिल्म एवं टी.वी. अकादमी (मद्रास) के निदेशक हैं)

1857 का विद्रोह : राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष

परिमल प्रियदर्शी

1857 का विद्रोह राष्ट्रीय संघर्ष है या नहीं यह सारा झमेला इस विद्रोह पर रमेशचन्द्र मजूमदार की पुस्तक Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857 जब 1957 में प्रकाशित हुई तब नए सिरे से उठ खड़ा हुआ। मजूमदार ने उस किताब में लिखा कि 'दरअसल 1857 या उससे पहले हम स्वाधीनता के राष्ट्रीय युद्ध की कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता या देशभक्ति हिंदुस्तान में बहुत दिनों तक अपने अभाव से ही जानी जाती थी।'¹ मजूमदार को 1857 में देशभक्ति की कल्पना भी इतिहास विरोधी मालूम पड़ती है। लेकिन उन्हीं मजूमदार महोदय ने विद्रोह पर अपनी पुस्तक के पृष्ठ 28 पर दक्षिण भारत के संघर्षों को ब्रिटिश सत्ता खत्म करने के लिए एक ही संघर्ष का अंग माना है। यही नहीं, उन्होंने प्रसन्नता से इस बात का उल्लेख भी किया है कि ब्रिटिश लेखकों तक ने अपने देश और स्वाधीनता की रक्षा के लिए लड़नेवालों के देशभक्तिपूर्ण संघर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 1857 के पहले दक्षिण के संघर्ष देशभक्तिपूर्ण हो सकते थे जिसमें 1806 का वेल्लोर का सैनिक विद्रोह भी शामिल है, केवल 1857 का महान् स्वाधीनता संग्राम किसी कारणवश न तो देशभक्तिपूर्ण था, न राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता से उसका कोई संबंध था। मजूमदार की पुस्तक में ही विवरण दिया गया है कि विद्रोह होने पर झांसी में घोषणा की गई 'खलक खुदा का, मुलक पादिशाह का, राज रानी लक्ष्मीबाई का।'²

इस विद्रोह के राष्ट्रीय पक्ष को रेखांकित करते हुए सुशोभन सरकार लिखते हैं 'एक विदेशी शक्ति की पराधीनता हमारे प्राचीन सामाजिक संगठन को निर्ममता से भंग कर रही थी और वही कदाचित् भारतीयता की भावना को संबल भी दे रही थी। यह एक प्रकार की अस्पष्ट राष्ट्रीय भावना थी और वही कदाचित् भारतीयता की भावना को संबल भी दे रही थी।... 19वीं शताब्दी में अधिकतर लोगों के लिए अखिल भारतीय राष्ट्र अथवा भारतीय लोक गणतंत्रात्मक राज्य का आदर्श अवश्य ही पूर्ण रूप से विकसित न था। किंतु, इस बहाने विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए देशव्यापी जनसंघर्षों को राष्ट्रीय न मानना अनुचित होगा क्योंकि देश की जनता के बहुत बड़े भाग की उसके प्रति सहानुभूति थी और एक प्रकार से संघर्ष में एकता भी थी।'³ उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है कि 'वास्तविक अर्थों में राष्ट्रीयता का ऐसा दृढ़ अर्थ लगाने से तो स्पेन के गुरिल्ला युद्ध करने वालों अथवा नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध करने वाले रूसी कृषकों के संघर्षों को भी राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता और न फ्रांस के राजकुमारों तथा वहां के लोगों को जिन्हें जॉन ऑफ आर्क ने अंग्रेज घुसपैठियों को खदेड़कर बाहर करने की प्रेरणा दी थी। इस मापदंड के अनुसार तो इटली के

कार्बोनेरी को भी ऐसा ही कहा जा सकता है क्योंकि प्रारंभ में उन्होंने संयुक्त इटली के नाम पर विद्रोह का विचार भी नहीं किया था। ऐतिहासिक निष्कर्षों में हम दोहरा आदर्श नहीं अपना सकते।⁴ विद्रोह की मूलभूत राष्ट्रीय भावना को स्पष्ट करते हुए सुरेन्द्रनाथ सेन ने लिखा है कि 'बिना गड़बड़ी के प्रांतों में भी जनता में एक ऐसी निष्क्रिय असंतोष की भावना थी जो अंग्रेजों की प्रत्येक हार का समाचार पाकर उन्हें प्रसन्न करती थी और भारतीय जनता को ऐसा अनुभव होता था कि सभी में अंग्रेजों के प्रति विरोध की भावना सामान्य रूप से विद्यमान है।'⁵ फिरंगियों के विरोध में भारतीय जनता के अंतः सूत्र कहीं जुड़े हुए थे। सेन के अनुसार, 'जातीय, धार्मिक और भाषाई भेदों के होते हुए भी भारतीय जनता यह अनुभव करती थी कि अंग्रेजों के विपरीत उनमें कुछ साम्य है। यही कारण है कि एक राजपूत चारण को भरतपुर की जाट विजय में अपनी कविता के अनुरूप एक विषय मिला और बुंदेले लोगों ने नेपाल में अंग्रेजों की विपत्ति पर प्रसन्नता मनाई।'⁶

1857 में सैनिकों ने दिल्ली में नई राजसत्ता स्थापित की। उन्होंने उत्तर और दक्षिण के राजाओं को मिलाने का प्रयत्न किया। जहां-जहां अंग्रेजों का अधिकार खत्म किया गया वहां-वहां नए शासकों ने अपने को दिल्ली के बादशाह का नायब घोषित किया। बहादुरशाह के नाम से देशी नरेशों के नाम पत्र भेजा गया कि वे एक होकर अंग्रेजों को निकालने का प्रयत्न करें और बादशाह उनकी सभा के हक में अपने अधिकार छोड़ देगा। सैनिक जो गीत गाते थे उसमें हिमालय और समुद्र का उल्लेख था जो इस देश की एकता के प्रतीक रहे हैं। यदि इन सबसे स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की भावना सिद्ध नहीं होती तो वह किन्हीं भी तर्कों से सिद्ध नहीं हो सकती।

1857 में राष्ट्रीय एकता के लिए सेना, जनता और अनेक देशभक्त सामंतों की ओर से जो भगीरथ प्रयत्न किए गए थे, वे इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। इस राष्ट्रीय एकता का प्रतीक दिल्ली का सार्वभौम प्रभुत्व था। सुदूर मध्य भारत में राजा मर्दान सिंह ने अंग्रेजों से छीने हुए प्रदेश पर दिल्ली का शाही झंडा फहराया। निजाम के सैनिक कहते थे कि अपने बादशाह के खिलाफ लड़ने नहीं जाएंगे। सैनिकों ने बेगम हजरतमहल और लखनऊ दरबार के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने में पहली शर्त यह रखी कि दिल्ली की आज्ञा शिरोधार्य करनी होगी। ऐसे गांव में जहां किसी सामंत का शासन नहीं था, सिपाहियों ने अपना अमल घोषित किया लेकिन राष्ट्रीय एकता के प्रतीक बादशाह को सर्वोपरि रखा। चहलारी के राजा बलभद्र सिंह और चंदेरी के मर्दान सिंह इस एक ही झंडे के नीचे अंग्रेजों से लड़े थे। इस एकता के मुख्य निर्माता विद्रोही सैनिक थे जो सामंतों के अभाव में अपना अमल भी घोषित कर सकते थे। यह अमल अन्य स्थानों की तरह दिल्ली के प्रभुत्व के अंतर्गत था।

सन् सत्तावन की राज्य क्रांति में पंजाब, सीमांत प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक, हैदराबाद और विशाल हिंदी भाषी प्रदेश की जनता ने भाग लिया। इन प्रदेशों में क्रांति का विकास एक सा नहीं था, न हो सकता था। कौन सा बहुजातीय देश है जहां क्रांति हुई हो और जिसके सभी प्रदेशों में उसकी गहराई, उसका वेग एक सा रहा हो? सौ वर्ष पहले हिंदुस्तान एकमात्र ऐसा देश था जहां इतनी जातियों के लोगों ने मिलकर अपनी स्वाधीनता के लिए विदेशी सत्ता से युद्ध किया था। यदि हिंदी भाषी प्रदेश के अलावा अन्य किसी भी प्रदेश के लोगों ने उसमें भाग न लिया होता तब भी यह युद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम कहलाने का अधिकारी होता। कारण यह कि हिंदी प्रदेश की जनता

केवल अपने प्रदेश के लिए नहीं लड़ रही थी। उसका उद्देश्य सारे देश को स्वाधीन करना था। इसीलिए बहादुरशाह की ओर से अनेक देशी नरेशों को पत्र भेजे गए थे। इसीलिए नाना साहब और तात्यां टोपे ने दक्षिण में जनता को युद्ध में सक्रिय रूप से योग देने के लिए आह्वान करते हुए अपने दूत भेजे थे। इसलिए सैनिक अपने प्रदेश के बाहर भी जनता को युद्ध में भाग लेने के लिए आमंत्रित करते थे और एक प्रदेश से हटाए जाने पर दूसरे प्रदेश में भी प्राणपन से युद्ध करते थे।

इसमें संदेह नहीं कि राज्य क्रांति को जनता की व्यापक सहानुभूति प्राप्त थी। अनेक स्थलों में सामंतों के विरुद्ध उनकी सेना ने विद्रोह कर दिया और वह विद्रोही सैनिकों से मिल गई किंतु हर जगह सामंतों की सेना अथवा उनकी प्रजा में इतनी जागरूकता नहीं थी। वह अन्य प्रदेशों के समान उसमें सक्रिय भाग न ले सकी। कश्मीर, गुजरात, केरल, तमिलनाडु और बंगाल, ये ऐसे प्रदेश हैं जहां की जनता ने क्रांति में सक्रिय भाग नहीं लिया। इसलिए कि उन प्रदेशों की जनता की राजनीतिक चेतना उतनी विकसित न थी। जिन प्रदेशों ने इस आंदोलन में भाग लिया या नहीं लिया, उनकी भौगोलिक स्थिति विचारणीय है। कश्मीर बिल्कुल उत्तर में, गुजरात बिल्कुल पश्चिम में, केरल, तमिलनाडु बिल्कुल दक्षिण में और बंगाल बिल्कुल पूर्व में, इन सभी प्रदेशों के लिए दिल्ली दूर थी। 1838 में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने लिखा था कि 'दिल्ली में आम ख्वाहिश अंग्रेजों को निकालने और एक भारतीय सरकार कायम करने की है लेकिन बंगाल में शिक्षित जन अंग्रेजों का गला काटने की बात सोचने के बदले उनके साथ बैठने का स्वप्न देख रहे हैं।' बंगाल की जनता ने राज्य क्रांति में सक्रिय भाग नहीं लिया। राज्य क्रांति की विशेषता थी, सिपाहियों, किसानों और कुछ सामंतों का संयुक्त मोर्चा। स्थायी बंदोबस्त के कारण अंग्रेजों ने जमींदारों का एक राजभक्त वर्ग तैयार कर लिया था जो प्रदेश की शिक्षा और संस्कृति को प्रभावित करता था और जिसके स्वार्थ अंग्रेजी राजसत्ता के साथ संबद्ध थे। बंगालियों को फौज में भर्ती नहीं किया जाता था। इस कारण बंगाल में सिपाहियों, किसानों और सामंतों का संयुक्त मोर्चा नहीं बन सका। ढाका और चटगांव में विद्रोह करने वाले सैनिक सुविधापूर्वक आगे बढ़ सके। जमींदारों से तो नहीं लेकिन जनता की सहानुभूति उन्हें प्राप्त हुई।

1957 ई. में 1857 की राज्य क्रांति पर रमेशचन्द्र मजूमदार और सुरेन्द्रनाथ सेन की पुस्तकों के अलावा पूरनचंद्र जोशी द्वारा संपादित पुस्तक Rebellion 1857 भी प्रकाशित हुई। पूरनचंद्र जोशी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के पहले महासचिव थे। इसलिए उनकी पुस्तक का महत्व मार्क्सवादी इतिहास की दृष्टि से है। पूरनचंद्र जोशी ने अपने निबंध में उस समय राष्ट्रीय भावना के अभाव पर प्रकाश डालते हुए उसके ऐतिहासिक कारण बतलाए हैं। उनका कहना है कि किसान अंग्रेज विरोधी था लेकिन गांव में बंद रहता था। उसका राजनीतिक ज्ञान उस राज्य की सीमाओं के बाहर न फैला था जिस पर उसका परंपरागत राजा राज्य करता था। जहां तक सामंत वर्ग का संबंध है, राजनीति और विचारधारा में नेतृत्व सामंत वर्ग का था। इनका वर्ग पतनशील था और उनकी ऐतिहासिक स्मृतियां विघटन और गृह युद्धों की थीं। एक संयुक्त भारत का स्वप्न उनकी आंखों के सामने उदय न हो सकता था। पूरनचंद्र जोशी ने मजूमदार की स्थापना को वैज्ञानिक तर्कों से पुष्ट करते हुए लिखा है, 'उन दिनों देश प्रेम का अर्थ होता था अपने परंपरागत राजा द्वारा शासित जन्म स्थान (Homeland)। हिंदुस्तान हम सभी का देश है, यह धारणा उस समय उत्पन्न न हुई थी। इस धारणा

के पनपने में सामंती ऐतिहासिक स्मृतियां ही बाधक न थीं, वरन् रेलवे, टेलीग्राफ, आधुनिक शिक्षा की एक सी व्यवस्था आदि के रूप में उसकी भौतिक नींव न डाली गई थी। नींव डालने की शुरुआत भर हुई थी।⁸ इसका अर्थ यह हुआ कि औद्योगिक क्रांति हुए बिना किसी भी देश अथवा प्रदेश के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती है। असल में जोशीजी के दिमाग में यह बात है कि औद्योगिक पूंजीवाद के आए बिना राष्ट्रीयता का जन्म ही नहीं होता है। उनके सामने यूरोप खासकर पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीयता के विकास का मॉडल रहा है। रूस में राष्ट्रीयता का विकास 17वीं सदी में माना जाता था तब वहां न रेल थी, न तार। अवश्य ही जोशी साहब ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम पर कुछ ऐसी बातें कह रहे हैं जो बेतुकी लगती हैं। भारत में औद्योगिक पूंजीवाद से पहले सौदागरी पूंजीवाद का विकास 13वीं सदी से ही शुरू हो गया था। व्यापार की बड़ी-बड़ी मंडियां स्थापित हो गई थीं।

जोशीजी की स्थापना का सबसे अच्छा खंडन स्वयं जोशीजी ने किया है। जो लोग समझते हैं कि सामंत देशभक्तों की भूमिका पूरी नहीं कर सकते उन्हें फटकारते हुए उन्होंने लिखा है- “यह सही नहीं है कि सामंतों ने इतिहास में कभी निश्चयात्मक देशभक्तिपूर्ण भूमिका पूरी नहीं की है। हम सोवियत राजनीतिज्ञों और इतिहासज्ञों के कठमुल्लेपन से मुक्त दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हैं जब वे उन रूसी सामंत सेनानायकों और नेताओं का बखान करते हैं जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के आरंभ में नेपालियन के विरुद्ध प्रतिरोध संगठित किया था। हम पोलैंड के विभाजन के विरुद्ध और मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए वहां की जनता के संघर्ष की प्रशंसा करते हैं जिसका नेतृत्व पोल सामंतों ने किया था। अपनी मातृभूमि की एकता और स्वाधीनता के लिए हम इटली की जनता के वीरतापूर्ण और दृढ़तापूर्वक चलाए हुए संघर्ष की प्रशंसा करते हैं जिसका नेतृत्व मेजिनी और गैरीबाल्डी जैसे क्रांतिकारी जनवादियों ने ही न किया था वरन् जिसमें सामंत कैवूर और पीडमौंट के राजा ने भी भाग लिया था। हम दूसरे देशों में सामंतों की देशभक्तिपूर्ण भूमिका की प्रशंसा करते हैं- बस एक अपना देश छोड़कर।”⁹

1857 के संग्राम की एक बड़ी उपलब्धि है अखिल भारतीय एकता की धारणा। कुछ पेशेवर इतिहासकारों ने इस बात पर जोर दिया है कि 1857 का विद्रोह राष्ट्रीय नहीं, महज स्थानीय था क्योंकि देश के खासे बड़े हिस्से इसमें शामिल नहीं थे लेकिन इस संघर्ष की सीमाओं पर बल देने के बजाए इसके विस्तार और इसके आयामों पर गौर करना चाहिए। हिमालय से बिंध्य तक और बंगाल की सरहदों से पंजाब की सरहदों तक पूरे उत्तर भारत में यह फैला हुआ था। यह पूरा इलाका फ्रांस, आस्ट्रिया और प्रशिया को मिलाकर बनने वाले क्षेत्रफल के बराबर का है और इसकी आबादी उनकी मिलीजुली आबादी से ज्यादा थी। 1857 का विद्रोह ब्रिटिश आधिपत्य के खिलाफ सबसे बड़ा गठबंधन था।

यह विद्रोह परिणामात्मक ही नहीं वरन् गुणात्मक बदलाव को भी चिह्नित करता है। इसके पहले के अंग्रेज विरोधी संघर्ष उस इलाके तक ही सीमित रहते थे जो सीधे-सीधे ब्रिटिश गुलामी के अधीन था या फिर किसी एक राजशाही की ओर से लड़ा जाने वाला युद्ध था जिसमें सामान्यतः एक जातीयता के लोग आत्मरक्षा के लिए शामिल होते थे- मसलन कर्नाटक, मैसूर, मराठा, सिख और सिंध की लड़ाइयां। पूरनचंद्र जोशी ने लिखा है कि ‘1857 और 1858 के दौरान अलग-अलग

रियासतों में रहने वाले अलग-अलग जातियों, कबीलों, समुदायों और जातीयताओं के लोग अंग्रेज लुटेरों के खिलाफ एकजुट हुए। यह भारतीय स्वाधीनता संग्राम में गुणात्मक रूप से नयी चीज थी। 'लंदन टाइम्स' ने इस नई घटना पर सही तरीके से गौर फरमाया : "1857 की बगावत के महत्वपूर्ण नतीजों में से एक है, हिंदुस्तान के सभी हिस्सों के निवासियों की आपस में जान-पहचान करवाना। हमने नेपाल से गुजरात की सरहदों तक, राजपुताने के रेगिस्तानों से निजाम के इलाके की सीमाओं तक इस लड़ाई की लहर को फैलते और उन्हीं-उन्हीं लोगों को पूरे भारत का दौरा करके प्रतिरोध को राष्ट्रीय चरित्र देते देखा है। अलग-अलग राज्यों के तुच्छ स्वार्थ, एक छोटी रियासत के लोगों की दूसरी रियासत के लोगों की आदतों और रीति-रिवाजों से नावाक्फियत- ये चीजें, मानों नदारद होती गईं। हम ये मान ले सकते हैं कि 1857 के विद्रोह में कोई राष्ट्रीय भावना स्पंदित नहीं हो रही थी, लेकिन इससे इनकार नहीं कर सकते कि इसे दबाने के हमारे प्रयासों ने एक नए पौधे का बीज-बपन कर दिया है और इस तरह भविष्य में जनता के द्वारा अधिक जुझारू कोशिशों के लिए आधार तैयार कर दिया।"¹⁰

1857 के इस विद्रोह पर मार्क्स के निबंधों का संकलन 1959 में मास्को से First Indian war of Independence नाम से प्रकाशित हुआ। उन्होंने लिखा 'मौजूदा भारतीय गड़बड़ी महज एक फौजी बगावत नहीं है बल्कि एक राष्ट्रीय विद्रोह है। सिपाही उसके औजारों की ही भूमिका अदा कर रहे हैं।'¹¹ उन्होंने इसकी तुलना 1789 की महान फ्रांसीसी क्रांति से की। उन्होंने लिखा 'फ्रांसीसी राजशाही पर पहला प्रहार कुलीन वर्ग की ओर से ही आया था न कि किसानों की ओर से। इसी तरह भारतीय विद्रोह रैयतों से शुरू नहीं हुआ था जिन्हें अंग्रेजों ने यातनाएं दी थीं, अपमानित किया था और नंगा करके छोड़ा था बल्कि सिपाहियों से आया था जिन्हें अंग्रेजों ने वर्दी से सजाया था, तगड़ा किया था और सिर चढ़ाया था।'¹² लेकिन एक बार जब विद्रोह शुरू हो गया, अंग्रेजों के अलग-थलग पड़ने की बुनियादी सच्चाई इस तथ्य से तय हो रही थी कि उनके प्रति किसानों की सद्भावनाओं का अभाव था। किसान और शहरी लोग- ये दोनों ही वर्ग सिपाहियों के साथ थे। इरफान हबीब ने लिखा है, 'यह उन्नीसवीं सदी का सारी दुनिया का सबसे बड़ा उपनिवेश विरोधी विद्रोह था। हमें कोई ऐसी दूसरी उपनिवेश विरोधी क्रांति दिखाई नहीं देती है जो दूर-दूर तक इस भारतीय क्रांति के पैमाने के आसपास भी आती हो।'¹³ इतिहासकार रजतकांत राय ने इस प्रसंग में लिखा है 'जे.एच. 'के' ने, जो कि विद्रोह के महानतम इतिहासकार रहे हैं, विद्रोह के दस साल बाद इस सवाल का आधिकारिक रूप से निपटारा कर दिया। एकत्र किए अपने ठोस आंकड़ों के आधार पर वे अपने इस साफ निर्णय पर पहुंचे कि विद्रोह भारतीय समाज के हृदय से उत्पन्न हुआ था। विद्रोह के जन-मनोविज्ञान की अपनी समझ में 'के' अद्वितीय थे। उन्होंने धर्म और भूमि के मामले में ब्रिटिश नीतियों द्वारा अत्यधिक उपेक्षित कर दी गई जनता की मानसिकता को दोहराया। 1909 में लंदन से 'एक भारतीय राष्ट्रवादी' शीर्षक से एक गुमनाम लेखक की रचना छपी। वी.डी. सावरकर द्वारा लिखी गई यह किताब, युद्ध में संपूर्ण जनता के सामूहिक प्रयासों के पीछे 'स्वधर्म' और 'स्वराज्य' के मतों पर आधारित थी। मनो-इतिहास की यह 'संकोचरहित कृति', अधिकारियों के रूख को लेकर जनता और सैनिकों के मन के बहुत नजदीक थी और इसे तुरंत प्रतिबंधित कर दिया गया। फिर एक मिशनरी, एफ.डब्ल्यू. बकलर ने विद्रोह के पीछे की धारणाओं पर प्रकाश डालने में अपना योगदान

किया। 1932 में रॉयल हिस्टोरिकल सोसायटी में एक महत्वपूर्ण पत्र में उन्होंने दर्शाया कि विद्रोही अपनी नजर में खुद को विद्रोही नहीं मानते थे। वे मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर के माध्यम से न्यायसंगत स्वायत्तता पुनः स्थापित करना चाहते थे। 'के', सावरकर और बकलर ने विद्रोह के लोकप्रिय, पारंपरिक और उपनिवेश विरोधी स्वरूप को निरूपित किया। दूसरे शब्दों में यह विद्रोह महज एक विद्रोह नहीं था।¹⁴

यह राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष है कि इस पर विमर्श करते हुए सुरेंद्रनाथ सेन ने लिखा है "जिस आंदोलन का प्रारंभ धर्म के लिए लड़ाई के रूप में हुआ था, उसी का अंत स्वाधीनता के लिए युद्ध के रूप में हुआ और इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है कि विद्रोही विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करना चाहते थे और वे उस पुरानी व्यवस्था को पुनः संस्थापित करना चाहते थे, जिसका दिल्ली का बादशाह न्यायपूर्ण प्रतिनिधि था।"¹⁵

हिंदुस्तानी जाति संख्या में इस देश की सबसे बड़ी जाति है। इसलिए और जातियों की अपेक्षा किसी भी स्वाधीनता आंदोलन में हिंदुस्तानी अधिक संख्या में भाग लें तो यह स्वाभाविक है। आबादी के सिवा उनकी प्रमुख भूमिका के और कारण भी थे। और जातियों की अपेक्षा इस जाति के लोग पंजाब, बंगाल, हैदराबाद, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में अधिक बिखरे हुए थे। भौगोलिक दृष्टि से हिंदुस्तानियों का प्रदेश भारतवर्ष के उत्तर, पूर्व और मध्य में था। इसलिए देश के विभिन्न प्रदेशों की गतिविधि से परिचित होना, अंग्रेजों की कूटनीति समझकर उसके विरुद्ध उपाय करना और किसी भी आंदोलन के लिए विस्तृत संगठन बनाना उसके लिए अधिक सरल था। पटना से लेकर पेशावर तक अंग्रेजों से गुप्त रखकर संगठन करने की कला से वे परिचित थे। बंगाल की सेना अंग्रेजों की भारतीय सेना का मुख्य भाग थी। उसमें अधिकतर अवध, रूहेलखंड और भोजपुरी प्रदेश के किसान भर्ती हुए थे। अवध के लोग बंबई सेना में थे, हैदराबाद और ग्वालियर की पलटनों में थे। चट्टगांव से लेकर पेशावर तक की पलटनों में अवध के सिपाही थे। ये गांव से बाहर की दुनिया देखते थे और पेंशन लेकर अपना अनुभव गांव वालों को सुनाते थे। गांव में अंग्रेज अमले जो अत्याचार किसानों पर करते थे वह उन्हीं के भाई बिरादरी वालों पर होता था। यही बात रूहेलखंड के सिपाहियों पर भी लागू होती है। इसलिए हिंदुस्तानी जाति का संघर्ष में आगे आना स्वाभाविक था। यहां के लोग हिंदू और मुसलमान लखनऊ और दिल्ली को अपनी रियासतें समझते थे। जब तक अंग्रेज पूर्व और दक्षिण में बढ़ रहे थे, तब तक यहां वालों को उतनी चिंता न थी। जब डलहौजी ने अवध को हड़प लिया तब यहां की जनता लड़ने को उतारू हो गई।

1857 का विद्रोह अंत भी था और शुरुआत भी। इसके बाद इतने बड़े पैमाने पर उपनिवेशवादी शासन के खिलाफ और कोई सशस्त्र संघर्ष नहीं हुआ। हालांकि इससे पहले भी देश के विभिन्न इलाकों में सत्ता से हटाए गए सामंतों और जनता ने कई विद्रोह किए थे। ये विद्रोह कई कारणों से प्रेरित थे और स्थानीय परिस्थितियों ने उनका स्वरूप निर्मित किया था लेकिन निर्विवाद रूप से उनका संबंध औपनिवेशिक दासता द्वारा उत्पन्न मुश्किलों से था। अंग्रेजी राज को मजबूत करने से रोकने वाली इन असफल कोशिशों में किसान, आदिवासी, जमींदार और भूतपूर्व शासक सभी शामिल थे। नेताओं के बीच कुछ हद तक पारस्परिक समझदारी और संवाद के बावजूद 1857 का विद्रोह अनिवार्यतः पहले की कोशिशों का विशाल पैमाने पर प्रदर्शन था। इसकी असफलता राष्ट्रवादी

राजनीतिक चेतना की दिशा में एक युगांतकारी घटना थी क्योंकि उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष में एक नए चरण की अगुवाई इसी से मुमकिन हुई। इस बहस को हम सुशोभन सरकार के इस उद्धरण से समाप्त करते हैं, 'इस बात पर हँसी आती है कि जो भारतीय इतिहासकार भारत की मूलभूत एकता को समझने और राजपूती वीरता, अकबरी उदारता और मराठा उत्कर्ष में राष्ट्रीय तत्वों को ढूँढ़ने का कौशल रखते हैं वही विदेशी शासन के विरुद्ध ऐसे उग्र जन विप्लव के प्रति दूसरा मापदंड क्यों अपनाते हैं।'¹⁶

संदर्भ सूची

1. Sepoy Mutiny and the Revolt of 1857, page-237, R.C. Mazumdar
2. वही, पृ.-145
3. बंगला नवजागरण, पृ.-108, सुशोभन सरकार
4. वही, पृ.-108
5. अठारह सौ सत्तावन, पृ.-483, सुरेद्र नाथ सेन, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 2005
6. वही, पृ.-485
7. सन् सत्तावन की राज्यक्रांति और मार्क्सवाद, पृ.-278, रामविलास शर्मा
8. Rebellion 1857 में P.C. Joshi का 1857 in our History नाम का निबंध, पृ.-179, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1957
9. वही, पृ.-167
10. नया पथ, मई, 2007, पृ.-13 पर जोशी के निबंध के अनुवाद में उद्धृत
11. इरफान हबीब द्वारा 1857 : राष्ट्रीय विद्रोह की कहानी नामक निबंध में उद्धृत, लोकलहर-28, जनवरी, 2007, पृ.-10
12. वही, पृ.-10
13. लोहलहर 4 फरवरी, 2007
14. नया पथ 1857 पर विशेषांक, मई 2007 (लोक विमर्श : विद्रोह विवाद)
15. सुरेंद्रनाथ सेन, अठारह सौ सत्तावन, पृ.-484, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।
16. बंगला नवजागरण, पृ.-109, सुशोभन सरकार।

हिंदी आलोचना पश्चिमी चिंतकों का उपनिवेश बन गई है : विजय बहादुर सिंह

आलोचक विजय बहादुर सिंह धोती-कुर्ते की अपनी उत्तर भारतीय पारंपरिक वेशभूषा में जितने खांटी गंवई दिखाई देते हैं, अपने चिंतन में वे उतने ही प्रखर, अधुनातन और मुखर हैं। ज्यादातर मुद्दों पर सीधे और खरी-खरी बात करने का उनका अपना ही अंदाज है, भले ही ऐसा करते हुए तथा कथित प्रगतिवादियों से सीधी मुठभेड़ ही क्यों न करनी पड़े। वे किसी विचारधारा विशेष के खूटे से भले न बंधे हों, लेकिन उनकी अपनी स्वतंत्र किंतु जनोन्मुखी विचारधारा तो है ही जो कहीं अधिक व्यापक, रचनाकार-सुलभ एवं सार्थक है। इस स्वतंत्रता की उन्हें कीमत भी चुकानी पड़ी है और वे कई ऐसे मान-सम्मानों से वंचित रहे हैं, जिसे लोग अपनों को रेवड़ी की तरह बांटते हैं। वे अपनी शर्तों पर जीने वाले रचनाकार हैं और साहित्य की स्वायत्त सी दिखने वाली दुनिया में, बहुत थोड़े ही लोग हैं जो वास्तव में स्वायत्त और स्वतंत्र हैं और विजय बहादुर सिंह भी उनमें से एक हैं। कदाचित् इसीलिए वे विविध विधाओं में इतना प्रचुर लेखन कर पाने में भी सक्षम हुए हैं, जो दूसरों के लिए ईर्ष्या का कारण बन सकता है।

16 फरवरी 1940 ई. को अकबरपुर, जिला- अंबेडकर नगर, उ.प्र. (पूर्व में फैजाबाद जिला) के जयमलपुर गांव में जन्मे डॉ. विजय बहादुर सिंह की उम्र का यह 75वां साल भी है। इस उम्र में वे जिस छरहरी काया के स्वामी हैं, उसे पाने के लिए तमाम लोग घंटों पसीना बहाने के बाद भी प्रायः निराश ही होते हैं। कदाचित् इसीलिए सिंह लेखन की दुनिया में निरंतर अपनी सक्रियता बनाए रखने में सफल दिखाई देते हैं। सागर विश्वविद्यालय से एम.ए. व पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त करने वाले डॉ. विजय बहादुर सिंह ने 1968 से 1995 ई.तक जैन महाविद्यालय, विदिशा (म.प्र.) के स्नातकोत्तर हिंदी विभाग में प्राध्यापक एवं अध्यक्ष के रूप में अपनी सेवाएं दीं तो 1995 से 2003 ई. तक उच्च शिक्षा उत्कृष्टता संस्थान, भोपाल में वे विभागाध्यक्ष रहे। 15 अक्टूबर 2008 से 31 अक्टूबर 2010 तक भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता के निदेशक रहते हुए उन्होंने जनवरी 2009 से अक्टूबर 2010 तक परिषद की मासिक पत्रिका 'वागर्थ' का संपादन भी किया। इससे पूर्व वे 'नया विकल्प' तथा 'हिंदी महफिल' पत्रिकाओं का भी संपादन कर चुके हैं।

डॉ. विजय बहादुर सिंह की प्रकाशित आलोचना-कृतियां हैं- 'वृहत्तययी के कवि प्रसाद निराला एवं पंत, नागार्जुन का रचना संसार, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, कविता और संवेदना, 'उपन्यास समय और संवेदना', 'महादेवी के काव्य का नेपथ्य', 'मुक्ति संघर्ष और साहित्य की भूमिका'। 'आलोचक का स्वदेश' नाम से उन्होंने आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी का जीवनी-लेखन किया तो साहित्य अकादेमी के लिए दुष्यंत कुमार पर मोनोग्राफ भी लिखा। 'मौसम की चिट्ठी' व 'पृथ्वी का प्रेमगीत' समेत उनके सात कविता संग्रह भी प्रकाशित

हैं। उनके द्वारा संपादित अत्यंत महत्वपूर्ण कार्यों में 'भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली' (आठ खंड), 'दुष्यंत कुमार रचनावली' (चार खंड) तथा 'नंददुलारे वाजपेयी रचनावली (आठ खंड) सम्मिलित हैं। उक्त रचनावलियों के अलावा उन्होंने 07 अन्य कृतियों का भी संपादन किया है। सामाजिक एवं शिक्षा चिंतन पर भी उनकी चार पुस्तकें हैं। नागार्जुन के साथ संवाद एवं साक्षात्कार की भी एक पुस्तक है। उन्हें आलोचना का रामविलास शर्मा सम्मान तथा सृजनात्मक अवदान के लिए 2008 के सुब्रमण्यम भारती सम्मान समेत और कई सम्मान भी प्राप्त हुए हैं। प्रस्तुत है सुपरिचित कथाकार कवि कमलेश भट्ट 'कमल' द्वारा साहित्यिक मुद्दों और हिंदी आलोचना पर की गई बातचीत के प्रमुख अंश :

आप हिंदी के सक्रिय व प्रमुख आलोचकों में से एक हैं। आप अपनी आलोचना के लिए कृतियों अथवा कृतिकारों का चयन किन आधारों पर करते हैं?

जिसे आप चयन कह रहे हैं, वह मेरे लिए कोई मेकनिकल प्रक्रिया नहीं है। कोई रचना पढ़ते-पढ़ते इतना अभिभूत कर लेती है कि मैं उसके सौंदर्य से संवाद करने के लिए विकल हो उठता हूं। रूपक की भाषा में कहूं तो जैसे कोई रूपसी मेरे मन में कामिनी की तरह उतर आए और मुझे व्याकुल कर डाले! इसे आलोचना और रचना की भाषा में कहूं तो अभिनव सृजनशीलता।

यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि अभिनव से मेरा मतलब पुरानी शाख पर नए अखुवों की मुस्कान से है, आकाशबेलि से तो कदापि नहीं।

मौजूदा हिंदी आलोचकों को रचनाकारों द्वारा लगातार प्रश्नों के घेरे में रखा जा रहा है। यह आलोचना का संकट है या रचनाकारों का?

यह संकट दुतरफा भी क्यों नहीं हो सकता? अव्वल तो रचनाकार अपनी 'करनी' नहीं देखते। हर वक्त एक खास तरह की आत्ममुग्धता उन्हें घेरे रहती है। तुलसी ने यों ही नहीं लिखा- 'निज कवित्त केहि लाग न नीका'

हमारे दौर का जो एक दुखद और साधारण संकट है वह है मौलिकता का अभाव। इधर-उधर से लेकर नया, आधुनिक, अति और उत्तर आधुनिक होने का खेल। यह सबसे बड़ा संकट है। विपरीत इसके आपको एक उदाहरण देता हूं- नई कविता के कवि दुष्यंत कुमार का गजल की जमीन पर अचानक उतर पड़ना। गजल यद्यपि एक फार्म नहीं है, फिर भी है। उसके मूल में तीव्र और मार्मिक भाव-विदग्धता है। अनुभव का क्षेत्र चाहे जो हो पर यह मार्मिकता और कचोट दुष्यंत के राजनीतिक अनुभवों में थी और है। मुक्तिबोध धूमिल, रघुवीर सहाय या फिर नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र की कविता में भी इस अनुभव की प्रमुखता है। पर इसे किंचित अधिक लोकोन्मुख या कहेँ जनोन्मुख बनाकर दुष्यंत कुमार ने सबका मन जीत लिया। मैं फिर तुलसीदास की तरफ लौटकर कहना चाहता हूं कि उनके समय में भी पंडित कवियों की भीड़ कम नहीं थी। शास्त्रीय अभिज्ञता और उसकी हेठी लिए कविगण भी थे पर जैसी अभिज्ञता तुलसी में लोक की संवेदना को लेकर थी, अन्धों में अनुपस्थित थी। केशवदास इसके सबसे ज्वलंत उदाहरण हैं। उनकी 'रामचंद्रिका' को लेकर ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा-उन्हें कवि-हृदय नहीं मिला हुआ था। आज शुक्लजी से पूछें कि यह 'कवि हृदय' क्या चीज है तो इसका जवाब कौन देगा? खोज-खाज कर हमें इस बात को समझने के लिए घनानंद जैसे सिद्ध कवियों के पास पहुंचना होगा वे कहते हैं- 'समुझें कविता घनानंद की

जिन आंखिन नेह की पीर तकी।' यह 'नेह की पीर' सिर्फ आशिक-माशूक के आंसू नहीं हैं, आलोचक की भाव-विदग्धता भी है।

आप जानते ही हैं कि एक अकादमिक आलोचना होती है इसमें शास्त्रीय (यानी पूर्व निर्धारित) मानदंड ही प्रायः निर्णायक होते हैं। पर सृजनशील आलोचना में सृजन की अभिनवता और विदग्धता केंद्र में होती है। एक और उदाहरण नाटककार भुवनेश्वर का हो सकता है। भवभूति की तरह अभी उन्हें अपने आलोचक का इंतजार है। शुक्र है तुलसी और जायसी को आचार्य शुक्ल और प्रसाद-निराला को उनके शिष्य आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, निराला को अतिरिक्त रूप से फिर राम विलास शर्मा जैसे ऐतिहासिक भाष्यकार मिले। अज्ञेय को शायद अभी भी नहीं मिले। तब शिकायत का क्या सवाल? आलोचक का काम सिर्फ मूड पर तो चलता नहीं। उसके साथ एक विशिष्ट कोटि की सांस्कृतिक जिम्मेदारी बनी रहती है। वह उतना स्वच्छंद और मनमौजी नहीं हो सकता है जितना और जैसा कोई कवि या लेखक होता है। अतीत की सारी परंपराएं, जातीय विरासतें, अपने समय की लोकसंवेदना-अन्य शब्द में समय-विदग्धता के साथ-साथ उसकी अपनी अभिरुचि की विशिष्टताएं और सीमाएं भी तो काम किया करती हैं। उसके अपने काम और चयन से उसकी मूल्यांकन-प्रज्ञा और कलात्मक अभिज्ञता मापी जाती है।

इसलिए यह सामूहिक रोना अपने साहित्य के झाड़ंगरूम में बैठ कर अपने ही प्रति अविश्वास का प्रमाण देना है। भवभूति को अपने को लेकर अविश्वास कहां था? मुक्तिबोध की इस पंक्ति पर जरा गौर करें- 'वे आते ही होंगे। ओ नागात्मक फणिधर'- में है।

मांडू के 'संगमन' में आपने कहा था कि विचारधारा केवल टॉर्च का काम करती है। लेकिन हिंदी की कथित मुख्यधारा का लेखन विचारधारा पर ही केंद्रित रहा है। ऐसे लेखन ने क्या सचमुच समाज को वह दिशा दी है, जो उससे अपेक्षित है?

सामान्य लेखन का लक्ष्य मनोरंजन या फिर रचनाकार-बिरादरी में शामिल होना है। विशिष्ट लेखन में जीवन के गहन-गंभीर मूल्य काम करते हैं। महान लेखन में कवि और द्रष्टा का संयोग जरूरी है। विचारधारा से मूल्यों की पहचान और समझ में मदद मिलती है। समय के अंधड़ और आपाधापी के बीच विचारधारा की रोशनी उन्हें देखने और समझने में सहयोग करती है। पर मानव-अनुभवों की जमातें जिस जटिल और बहुस्तरीय धरातलों से जुड़ी रहती हैं, उसमें सर्जक की प्रतिभा या दृष्टि बुनियादी है। इसी के सहारे नहीं, कहां बल पर लेखक अपने 'विभावों' का अंतःसाक्षात्कार करता है।

वहां मांडू में आयोजित-संगमन-में ढेर सारे कहानीकार थे। मेरे प्रिय और आदरणीय उपन्यासकार गिरिराज किशोर थे। प्रतिभाधर प्रियंवद थे। युवा कहानीकारों में भालचंद्र जोशी, वंदना राग, सत्यनारायण पटेल आदि थे। यों मैं मुख्यतः कविता का आलोचक रहा। बाद में कुछेक उपन्यासों पर काम किया और वह पसंद किया गया। निर्मल वर्मा, काशीनाथ सिंह, शशांक और हलके- फुलके ढंग से कहां तो ज्ञानरंजन पर लिखा। पर इसे मैं कोई काम नहीं मानता, तो मैं अपने मित्र लेखकों से यह कहना चाहता था कि विचारधारा किसी को लेखक नहीं बना सकती। हां लेखक विचारधारा को आत्मसात कर अपने सृजन को विशिष्टता जरूर प्रदान कर सकता है। नागार्जुन, मुक्तिबोध स्वयं

गांधीभक्त भवानी प्रसाद मिश्र या फिर ललित निबंधकार और चिंतक कुबेरनाथ राय, बहुलोकप्रिय हरिशंकर परसाई- इन सबमें विचारधारा का सौंदर्य और प्रकाश है। पर पुरानों में भंवरगीत वाले नंददास, नयों में कवि रांगेय राघव, कवि शील, सुदर्शन चक्र एक मित्र कथाकार रमेश उपाध्याय-सिर्फ विचारधारा होकर रह गए हैं, सर्जक बचे ही नहीं! इससे विचारधारा का भी क्या भला हुआ? रही समाज को दिशा देने की बात तो वह तो मानस या कामायनीकार जैसे लेखक-जो सचमुच महान द्रष्टा हैं, वे ही कर पाते हैं। शेष या तो मन बहलाते हैं या फिर हमारे संवेदना-मरुस्थल होते जाते जीवन की रक्षा करते हुए नए-नए संवेदना-मरुद्यान रचते हैं। इससे मनुष्यता और उसकी नैसर्गिक संस्कृति की रक्षा होती रहती है।

हिंदी में साहित्य और साहित्यकार एक हद तक अप्रासंगिक- से होते जा रहे हैं। समाज उनकी कोई चिंता करता नहीं दिखाई देता है। उनकी पहचान पर ही संकट की स्थितियां दिखाई दे रही हैं। इस विडंबना पर आपकी क्या टिप्पणी है?

इसे हादसा कहना होगा! विडंबना कहने से काम नहीं चलेगा। समाज के अनुभवों और अनुभव-प्रक्रियाओं से साहित्य की अनुभव-प्रक्रिया अलग-थलग जा पड़ी है। आप 1942-43 में लिखी (या इससे पहले भी) तार सप्तक (1944) की कविताओं को देख जाइए। आज उन्हें फिर से पलटिए। पता चल जाएगा कि कविता क्या गुल खिला रही थी! जबकि समूचा देश चालीस-बयालीस से पैतालीस-छियालीस में क्या सोच और कर रहा था। देश की चिंताओं और अनुभवों की कोई प्रतिछवि वहां है या नहीं ?

इस संदर्भ में उस समय के सबसे बड़े आलोचक का यह कथन देखें-‘हिंदी-काव्य की ऊपर दिखाई परंपरा से टूटकर अलग होने का प्रयोगवादियों का प्रयत्न न तो उनके लिए और न हिंदी कविता के लिए श्रेयस्कर है। नवीनता लाइए, पर अपनी विरासत से मुंह न मोड़िए। उत्तराधिकार न छोड़िए। अपने प्रति (अपनी अनुभूतियों के प्रति), काव्य के प्रति और समय और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को भूलकर प्रयोग नहीं किए जा सकते। उन प्रयोगों का अर्थ होगा शून्य पर दीवाल खड़ी करना।’ आधुनिक साहित्य पृष्ठ-95- आचार्य नंददुलारे वाजपेयी।

आज के संदर्भ में कहूं तो कवियों ने उस सामूहिक संवेदना-भूमि के प्रति लापरवाही और बेपरवाही दोनों ही बरती है। तब उन्हें इसका खमियाजा भी क्यों नहीं भुगतना चाहिए?

नकली और आभासी कवियों को खुले मैदान में दौड़ लगाने की छूट अगर मिली है तो इसीलिए। गनीमत है, उपन्यास और कहानी में अब भी ऐसे जिम्मेदार और प्रतिभाशाली लेखक हैं जिन्हें वृहत्तर हिंदी समाज पढ़ रहा है। कारण यही कि इनके पांच देशी जमीनों से पैदा हुए अनुभवों की जमीन पर है। इनकी सोच की दिशा भी राष्ट्रीय और लोकतांत्रिक है। भले ही ये प्रेमचन्द, रेणु न हों फिर भी इन्हें पढ़ते हुए हमें अपने समाज की धड़कनें सुनाई पड़ती हैं।

मौजूदा उपभोक्तावादी समय में एक आलोचक के रूप में आप साहित्यकारों से किस तरह के साहित्य की उम्मीद करते हैं?

उपभोक्तावादी समय और समाज की अभिरुचियां बहुत सतही होंगी। काव्य और कलाओं की दुनिया जबकि सतह के नीचे की वास्तविकताओं से रची जाती है। तब भी इतना भर कहकर संतुष्ट

नहीं रहा जा सकता। हमें वह पुल तो खोजना ही होगा जिस पर सम्मिलित आवाजाही संभव हो सके। हमें अपनी सृजनशीलता की पुनर्परीक्षा करनी होगी। अपनी कल्पनाओं पर प्रकारांतर से प्रतिभा-व्यापार पर पुनर्विचार करना होगा। साथ ही कथन-पद्धति और शिल्प पर भी। फिलहाल जो मुझे समझ में आ रहा है वह यह कि यह मॉलजीवी उत्तर आधुनिक हिंदी समाज चेतना के स्तर पर अभी भी मध्ययुगीन, सामंती और हद पुराना पूंजीवादी दिमाग लिए हुए है इसलिए हमें बीच का रास्ता ही अपनाना होगा- 'लगान', 'लगे रहो मुन्नाभाई' या 'फिर तारे जमीन पर' जैसी फिल्मों वाला बौद्धिकता और भावुकता का एक नया रसायन पैदा करके मनोरंजकता और संगीतमयता को भी नए सिरे से रचकर। उपभोक्ता समाज को उसके बौद्धिक स्तरों पर उतरकर ही कुरेदना पड़ेगा। ये समझौते दोनों के लिए लाभदाई होंगे। याद रखना होगा अति चाहे भावुकता की हो या फिर बौद्धिकता की- भारतीय समाज के मनमाफिक कभी नहीं पड़ती। भोग और त्याग को भी यहां संतुलित और मर्यादित रखने को कहा गया है। सामान्य जन-जीवन और विशिष्ट समझे जाने वालों के बीच टूट चुके पुल को बनाने वाला सृजन ही हमारा राष्ट्रीय साहित्य माना जाएगा।

मौजूदा समय घोर अव्यवस्था और मंहगाई का है। डालर रुपए को रोज दबाता जा रहा है तथा सारे अर्थशास्त्री किंकर्तव्यविमूढ़ता वाली स्थिति में हैं और आम आदमी है कि पिस जाने वाली स्थिति में आता जा रहा है। साहित्य का कोई हस्तक्षेप, कोई प्रस्ताव, कोई समाधान इतने गंभीर समय में भी सामने नहीं आ रहा है! इस उदासीनता को लेकर आपकी क्या चिंताएं हैं?

कमलेशजी, यह उदासीनता घातक है! इसे जितनी जल्दी तोड़ा जा सके, कल्याणप्रद होगा। हम लेखक लोग लिखते ही इसीलिए हैं कि वह सब लोगों के जीवन में उतरे। फिलहाल हमें खुद अपने शब्दों का क्रांतिकारी अर्थ बन जाना है।

मांडू के ही 'संगमन' में आपने यह भी कहा था कि भारतीय साहित्य में सौंदर्य नहीं, रस प्रमुख है। साहित्य के सामाजिक सरोकारों के परिप्रेक्ष्य में इस रस तत्व को किस प्रकार समझा जा सकता है?

सौंदर्य का एक अर्थ ऐंद्रिक भी है। अलंकारों का बटोर सौंदर्य को जन्म देता है। शब्दों की चमत्कार-शक्ति भी प्रदर्शित करता है। कलाकार/लेखक की चमत्कारिक शक्ति को प्रमाणित करता है। 'रस' हमें अपनी सहज, नैसर्गिक, उस सूक्ष्म चेतना-धरातल पर ले आता है जहां हम व्यक्तिगत आस्वादों के सीमित घेरों से निकलकर सामूहिक चित्त के उदात्त और वैश्विक धरातलों पर पहुंच जाते हैं। जहां हम हिंदी, हिंदू से ऊपर उठकर व्यापकता और उदारता के संवेदन-मंच बन जाते हैं। 'रस' प्रतीति तमाम निजताओं का अतिक्रमण कर ही संभव है।

सौंदर्य इस अर्थ में हमारे लिए वरेण्य नहीं है। हम भारतीय मनुष्य होने के साथ-साथ विश्व मानव भी होना चाहते हैं। इसके बोध के बगैर यह असंभव है। इसके विवेचन में जिस साधारणीकरण की बहुत चर्चा है उसका मतलब ही है, स्वार्थ संबंधों से बंधे व्यक्ति-मन का-निजी और व्यक्तिगत का सर्वसाधारण मन हो जाना है। भारतीय साहित्य इसीलिए रस की कामना करता है।

मांडू में आपने यह भी टिप्पणी तुलसी के संदर्भ से की थी कि साहित्य को व्याकरण पढ़कर लिखना साहित्य नहीं है, वह जीवन जानकर लिखा जाता है। समकालीन कहानियों/उपन्यासों/

कविताओं में भी जीवन आ रहा है लेकिन इन विधाओं की समाज में वैसी व्याप्ति क्यों नहीं हो पा रही है?

यह मेरी टिप्पणी नहीं है, तुलसी की है। उनसे भी पहले यह आनंदवर्धन जैसे आचार्य कह गए-केवल शब्द विद्या से या तर्क के पांडित्य से काव्य के अर्थ का आकलन नहीं होता। क्षेमेंद्र का यह कथन सुनिए-‘यदि तुम्हें सत्कवि बनना है तो किसी शब्द-पंडित या तर्कपंडित को गुरु मत करो, पढ़ाने पर भी वे काव्य नहीं समझ सकते।’ अर्थात् काव्य का व्याकरण जान लेने मात्र से काव्य संभव नहीं होगा। काव्य का मूल स्रोत तो लोकानुभव और उसका प्रेरणाएं हैं।

हमारे समय में जो लेखक केवल वैचारिक अवधारणाओं को आधार बनाकर लिख रहे हैं, उनका सारा काम विचारधारा प्रधान है। इससे वे थोड़ा-बहुत भाषाई चमत्कार रचकर अपनी पहचान तो बना रहे हैं पर सर्वसाधारण पाठक तक उनकी पहुंच नहीं हो पा रही है। ये वे लोग हैं जो पढ़े-लिखे हैं और काव्य का व्याकरण जानते हैं, पर अपने आस-पास के लोक-समाज को कितना जानते हैं, यह प्रश्न फिर भी रह जाता है। लोक में इनकी पैठ को लेकर वृहतर शोध क्यों नहीं होना चाहिए? क्यों आज तक कोई ऐसा चारित्र्य ये हमें नहीं दे पा रहे हैं जिसे लोक अपनी चेतना और स्मृति में धारण कर सके? तब भी मैं निराश नहीं हूँ। उदयप्रकाश, अलका सरावगी, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा, इनसे भी वरिष्ठ मन्नु भंडारी, कृष्णा सोबती आदि के लेखन को आदर और उम्मीद से देखता हूँ। इनके लेखन में जीवन की ऊष्मा है, जमीनी ताप है। अनुभवों की गहराइयां और कल्पना की भरोसेमंद उड़ानें हैं।

कथाकार से.रा. यात्री कहते हैं कि रचनाकार को एक सीमा तक ऐक्टिविस्ट होना चाहिए। आप साहित्यिक रचनाधर्मिता के लिए ऐक्टिविज्म को कितना जरूरी मानते हैं?

यह समय हमसे यह मांग रोज-रोज करता है। पर हम उसकी इस आवाज को सुनने को तैयार नहीं। से.रा. यात्री से मैं एक सौ एक प्रतिशत सहमत हूँ।

एक आलोचक के रूप में आप साहित्य के ऊपर किस तरह के संकट देख पा रहे हैं?

साहित्य अपनी परंपराओं की जमीन पर नहीं है! उधार और नकल की कमाई पर उस्तादी दिखा रहा है। यह व्यक्तिहीनता तो है ही, साधना और संघर्ष के रास्ते से पलायन भी है। भयावह और शर्मनाक अवसरवाद अधिकांश लेखकों का चरित्र बन चुका है। ये सब पश्चिम के ढंग से आधुनिक हो चुके हैं किंतु पश्चिम के लेखकों की आधुनिकता तो उनकी अपनी कर्मठता और सामाजिक उद्यमों से कमाई और अर्जित की गई है। आप इन तमाम आधुनिकतावादियों, वादग्रस्त प्रगतिशीलता-वादियों से पूछें कि ये सब अपने सिद्धांतों, व्याख्याओं और वैचारिक सपनों को किन साधनाओं से कमाकर ले आए हैं तो आप जैसे प्रश्नकर्ता को ये दिवालिया या मूर्ख ही समझेंगे। इनके लेखन और सामाजिक जीवन की विवश उलझनों का कोई ताल-मेल आपको दिखेगा नहीं। हां, बौद्धिक स्यापे और पुरुषार्थहीनता का प्रचार-सो भी यथार्थ के नाम पर इनकी खूबी जरूर है। आप इनके राष्ट्रीय लेखक संघों-संगठनों को देख जाइए, किसी भी अहम राष्ट्रीय मसले और आपदा में इनकी बेहयाई भरी चुप्पी का कोई मुकाबला नहीं। ये ही सब मिलकर देश और समाज को प्रगतिशीलता के रास्ते पर ले जाने की ठेकेदारी दिखा रहे हैं! पर इनकी सारी गतिविधि करिअर की चमकीली उपलब्धियों और

सफलताओं तक सीमित है। सोचिए कि क्या होता यदि निराला, उनसे पहले प्रसाद, प्रेमचंद, या फिर बाद के रेणु, नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र, मुक्तिबोध या धूमिल और दुष्यंत कुमार ने भी यही किया होता! या फिर भारतेंदु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा ने किया होता!

राम विलास शर्मा के बाद ऐसा नहीं हो पाया कि किसी आलोचक ने किसी बड़े रचनाकार की पहचान समाज से करवाई हो! क्या हिंदी ऐसे बड़े रचनाकारों से खाली हो गई है या आलोचक ही उन्हें नहीं देख पा रहे हैं?

आपका यह सवाल थोड़ा अतिवादी है। नामवर सिंह ने अपने पूज्य गुरुदेव आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर 'दूसरी परंपरा की खोज' जैसी चर्चित कृति हमें दी है। हां, वे शर्मा की तरह के उद्यमी तो जरूर नहीं हैं। अपने मुंह मियां मिट्टू जैसी बात न हो तो कहूं कि नागार्जुन पर सबसे पहली आलोचना-पुस्तक मेरी है। 'आलोचना' का जो महत्वपूर्ण विशेषांक उन पर आया वह मेरी किताब के बाद का है। इससे पहले 'लहर' का एक अंक जरूर आया था, थोड़ा नागार्जुन को केंद्रित कर। रामविलासजी ने एक बढ़िया लेख लिखा था। सो भी उनकी प्रगतिशीलता को केंद्र में रखकर/पर नागार्जुन एक परिपूर्ण सर्जक हैं और तमाम वादी संकीर्णताओं का अतिक्रमण लगभग निराला की तरह करते हुए आते हैं। इस सब पर तो हिंदी साहित्य का ध्यान मेरी किताब ने ही आकृष्ट किया। आप जानकर चौंकेंगे कि नामवरजी को किताब भिजवा तो दी थी, पर एक संगोष्ठी में मेरे मित्र नीलकांत के समक्ष उन्होंने कहा- 'मैं तो किताब तुम्हारे हाथ से चाहता हूं।' रामविलासजी को दी हुई किताब उनका कोई प्रियजन उठाकर ले गया तो मुझे दुबारा भेजने को कहा।

नागार्जुन पर ही मैंने दूसरी किताब 'नागार्जुन संवाद' दी। यह कई दोस्त-लेखकों की निगाह में किंचित विस्फोटक तथापि तमाम भारतीय भाषाओं में विरल काम है। मराठी और बांग्ला में इसके कुछेक हिस्से अनूदित भी किए गए हैं।

सच तो यह कि मैं विचारधारात्मक आलोचना की तरफ नहीं ही गया। अपनी देशी तबीयत के चलते देशी लगते कवियों-लेखकों को ही पढ़ता-समझता रहा। नागार्जुन, त्रिलोचन, भवानी प्रसाद मिश्र, दुष्यंत कुमार, इधर मैत्रेयी पुष्पा मेरी अभिरुचि में रहे। उदय प्रकाश पर भी मैंने कोशिश भर लिखा है। मैं पहले अपनी अभिरुचि के निकट का लेखक तलाशता हूं। चर्चित नाम मेरे निकट के लगते हैं। यों अज्ञेय, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध पर भी लिखा है। रामविलासजी का निराला वाला काम सिर्फ कोरे आलोचक का काम नहीं है। एक प्रेमी और रसिक का काम भी है।

पता नहीं आपको पता है या नहीं, इधर मैंने अपने गुरु आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की जीवनी 'आलोचक का स्वदेश' लिखी और वह महत्वपूर्ण मानी जाने वाली जीवनियों में स्थान पा गई है। अभी विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपने गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर 'व्योमकेश दरवेश' नाम से संस्मरणात्मक जीवनी लिखी। अज्ञेय पर उनके कई आलोचकों ने काम किया है। अब सब राम विलास शर्मा तो हो नहीं सकते। प्रकृति ने उन्हें रामविलासजी की तरह पैदा ही नहीं किया। तब उन्हें प्रतिमान बनाकर बाद के आलोचकों को मापना क्या उचित है?

एक और बात जो कहना चाहूंगा वो यह कि रामविलासजी ने अपने मित्र कवि केदारनाथ अग्रवाल पर भी काफी भावविद्ध लेखन किया है पर परवर्ती लेखकों और आलोचकों के बीच

तुलनात्मक ढंग से तो नागार्जुन ही सर्वोपरि माने जा रहे हैं।

आलोचक की भी अपनी रुचियां, दीक्षाएं, संस्कार और विचार-भूमियां होती हैं। कई तो यही कहते रहते हैं कि उन्हें आलोचक की जरूरत नहीं। उनका यह आत्मविश्वास कितना आत्मविश्वास है, कितना क्या कुछ यह तो वे ही जानें। आप यह भी मानें कि हर समय न बड़े लेखक पैदा होते हैं, न आलोचक।

आप जिन रचनाकारों की बात कर रहे हैं वे पहले से ही पत्र-पत्रिकाओं और पाठकों के माध्यम से स्थापित रचनाकार हैं।

कमलेशजी, जनता के बीच में होना अलग बात है और किसी आलोचक द्वारा रचनाकार की सृजनशीलता और सौंदर्य के आयामों की तलाश करके उसकी स्थापना करना दूसरी बात है। नाटककार भुवनेश्वर को अभी तक आलोचक नहीं मिला है। नागार्जुन इतने बड़े रचनाकार हैं लेकिन उन पर आलोचकों की पहली किताब मेरी ही आई है। उन पर न नामवर ने लिखा, न मैनेजर पांडेय ने लिखा है। आलोचक का काम फार्मेट में कार्य करना नहीं है, उसका कार्य फार्मेट को तोड़ना है। आलोचक इतिहासकार नहीं होता। इतिहासकार तो ए-टू-जेड सभी को निगाह में रखता है, उन्हें दर्ज करता है। अब यदि आचार्य रामचंद्र शुक्ल को ही देखा जाए तो वे जायसी, सूर और तुलसी के आलोचक हैं और बाकी साहित्यकारों के लिए इतिहास लेखक हैं।

हिंदी दुनिया की सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा बनने की ओर अग्रसर है, फिर भी अंग्रेजी की तुलना में हिंदी का बाजार इतना सिकुड़ा हुआ क्यों है?

बाजार तो हिंदी का इतना बढ़ रहा है कि अमरीका, चीन और जापान भी इसकी गिरफ्त में हैं। पर हिंदी के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट वे हिंदी प्रदेश हैं जो हिंदी के प्रति अपनी स्वाभाविक जिम्मेदारी नहीं निभा रहे हैं। बंगाल की सरकार बांग्ला भाषा और साहित्य को जैसा महत्व देती है, हिंदी प्रदेश और उनकी सरकारें प्रायः नहीं देती। उद्योग, व्यापार, विज्ञान, तकनीक, समसामयिक सभ्यता की अन्य अनेक चुनौतियों के संदर्भ में हिंदी के विकास के दायरों की खोज नहीं की जाती। बस विश्व हिंदी सम्मेलन में चिल्ला-चिल्लाकर कहा जाता है कि हमारी हिंदी को मानो। अंग्रेजी-अंग्रेजों और अमरीकियों के बौद्धिक पौरुष पर टिकी है। भारत के अधिकांश बैद्धिकों को भी उनके उपनिवेश का ही नागरिक कहा जा सकता है। ठोस काम में, राष्ट्रीय जमीन पर हिंदी को खड़ा करने में शायद ही कोई सक्रियता दिखती हो।

साहित्य के पठन-पाठन से मनुष्य के अंदर ऐसा क्या घटित होता है जो समाज के लिए भी उपयोगी एवं रचनात्मक होता है?

इस पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने 'कविता क्या है' महानिबंध में काफी कुछ कह चुके हैं। साहित्य एक प्रकार से पशुता की ओर बढ़ते या प्रवृत्त होते आदमी की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है। वह उसे यंत्र-मानव या मशीनी पुरजा बनने से रोकता है। अति-दुनियादारी और अति बौद्धिकता एक प्रकार का असंतुलन है। भावुकता का तत्व इसे संतुलित करता है। रोज-रोज अहसज होते मानव मन को सहज बनाए रखने में मदद करता है। अरस्तू ने यों ही विरेचन (कैथारसिस) के सिद्धांत की खोज नहीं की। कैथारसिस का मतलब है ही भाव-संस्कार। गंदी या मलिन होती जाती प्रवृत्तियों

को स्वच्छ और सुसंस्कारित करना। आचार्य भरतमुनि या आचार्य अभिनवगुप्त की रसानुभूति-साधारणीकरण, अरस्तू से आगे की बात है। अधिक तर्क-पूर्ण और हृदयग्राही। दार्शनिक स्तर पर अधिक ठोस।.....साहित्य, सभ्यता की पाश्वकता का एकमात्र इलाज है।

साहित्य से यदि पाठक विमुख हुआ है तो इसमें रचनाकारों की भी अपनी न्यूनताएं रही हैं! लेकिन क्या इस स्थिति के लिए क्या आलोचक को भी कहीं उत्तरदायी मानते हैं आप?

सन् 1925-30 से ही भारत के समाज पर एक और सुनियोजित हमला शुरू हुआ। एक और से मेरा मतलब मैकाले के बाद का। यह हमला गांधी के प्रभाव को कम करने की योजना से आया। भारत के वे लोग जिन्हें इस देश के किसानों, कारीगरों, शिल्पियों और श्रमिकों के जीवन और जीवन-विश्वासों की कोई समझ नहीं थी, वे लंदन में पढ़कर इनके उद्धार और मुक्ति के लिए उतर पड़े। ऐसे लोगों को, रामविलास शर्मा को पत्र लिखते हुए सबसे पहले कवि निराला ने पहचाना था। उनके पत्र की कुछेक पंक्तियां देखें- 'यहां एक दल ऐसा है, जो उच्च शिक्षित है। शायद सोशलिस्ट भी। इसके कुछ लोग यूरोप भी हो आए हैं। इन्होंने प्रोग्रेसिव राइटर्स मीटिंग या एसोसिएशन नाम की एक संस्था कायम की। ये उच्च शिक्षित जन कुछ लिखते भी हैं, इसमें मुझे संशय है। शायद इसीलिए लिखने का नया आविष्कार इन्होंने किया है और वह इनमें जोर पकड़ता जा रहा है। कुछ पं. जवाहर लाल नेहरू से काफी मिलते-जुलते हैं और देश के उद्धार के लिए कटिबद्ध हैं इनमें सज्जाद जहीर साहब विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।'

आश्चर्य तो यह है कि कि प्रगतिवादी हलके और आलोचना में जिन चरित्रों की अब तक निर्विवाद चर्चा है, वे घीसू, माधव, हल्कू और होरी-धनिया हैं। यशपाल, रांगेय राघव, खुद नागार्जुन के चरित्र आलोचक और हिंदी के पाठक-समाज के बीच स्मरणीय नहीं हैं। सब जानते हैं प्रेमचंद ने ये चरित्र उस विचारधारा से प्रेरित होकर नहीं रचे जिसे सज्जाद जहीर जैसे लोग ले आए थे।

प्रगतिवादी आलोचना में निराला की 'राम की शक्तिपूजा' अब भी सबसे ऊपर है। पर इसे तो सारा हिंदी साहित्य ही महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट रचना मानता है। यह प्रगतिवाद या प्रयोगवाद की देन नहीं है।

ये लोग जिस भाव-संस्कार और अनुभव-प्रणाली के लेखक हैं, वह आधारभूत ढंग से भारतीय है। अन्याय कैसा भी हो, उसके विरुद्ध संघर्ष करना। मंगल पांडेय ने 1857 में कार्ल मार्क्स (जो भारत में तब तक जाने ही नहीं गए थे), की पोथी पढ़कर अपना गुस्सा प्रकट नहीं किया। यह काम तो सबसे ज्यादा गीता, रामायण-महाभारत सिखाते हैं। शंबूक के प्रति, एकलव्य के प्रति होने वाले अत्याचार और उनके प्रति करुणा और प्रेम की अभिव्यक्ति भारत की अपनी भाव-पद्धति है।

1942-43, 44 में तार-सप्तक के कविगण जिनमें से अधिकांश वामपंथी ही थे, एक और संस्कृति लेकर आए-कविता में अति बौद्धिकता और विचाराधिक्य की। कविता, कविता न हुई गहन विचार-विमर्श का मंच हो उठी। कवि कौशल के आधिक्य ने काव्य-विषय ही नहीं, काव्य-तत्व के मूल आधारों पर भी अपना वर्चस्व जमा लिया। इतिहास में जाएं तो इन कवियों-कविताओं को प्रयोगवादी कहने वाले आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचकों ने भारी विरोध किया। फलतः दूसरा सप्तक (1951) के कवि कुछ अधिक संतुलित होकर आए। कवि होकर भी, हां, प्रयोक्ता होकर बहुत

कम। भवानी प्रसाद मिश्र, रघुवीर सहाय, शमशेर, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि। ध्यान दें तो तार सप्तक की कविताएं बहुत कम याद की जाती हैं। पर दूसरा सप्तक के साथ ऐसा नहीं है। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां लिखते हुए स्वयं नामवर सिंह भी शमशेर आदि को प्रयोगवादियों में ही गिनाते रहे। वाजपेयी द्वारा दिया गया नाम भी स्वीकार लिया। काव्य-शिल्प वाद के सबसे बड़े उदाहरण आचार्य केशवदास हैं। आधुनिक काल में अज्ञेय उसके समर्थक हैं। 'असाध्यवीणा' वाले अज्ञेय को छोड़कर।

विचारधारावाद और कलावाद ने स्वाभाविक जातीय काव्यधारा के प्रवाह में काफी व्याघात उत्पन्न किया और कविगण अपने ही परंपरागत रसिक समाज से दूर होते गए। तथापि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, रघुवीर सहाय तो हमारे पास हैं। काव्य-पाठकों और काव्य-रसिकों को अपने ठौर से उठकर यहां, इनके पास क्यों नहीं आने की कोशिश करनी चाहिए?

बच्चन और नीरज अपनी जगह ठीक हैं पर समय और लोक-यथार्थ के संदर्भ में कविता की गहरी जातीय (राष्ट्रीय) जिम्मेदारियों के बोध के लिए देर-सवेर इन तक आना तो पड़ेगा। शास्त्रीय संगीत, नृत्य, चित्रकला भी तो आखिर अपना काम कर ही रहे हैं। वही रस या भाव-व्यापार कविता को भी पैदा करना पड़ेगा, पाठकों को भी अपना सतही मानस अधिक गंभीर और संवेदनशील करना पड़ेगा। यह दुतरफा जिम्मेदारी है।

समूचे हिंदी साहित्य में आदिकाल से आधुनिक काल तक आप परंपरा और निरंतरता के कौन सूत्र तलाश पाते हैं?

कमलेशजी, परंपरा ही तो निरंतरता है। धर्म-क्षेत्र में इसी प्रक्रिया को सनातनता कहा जाता है। कविता में यह जीवन-सत्य के नाम से जाना जाता है। 'सत्य कहउं लिखि कागद कोरे। मुक्तिबोध ने, आचार्य शुक्ल ने अन्य आचार्यों-कवियों-लेखकों ने इसे बार-बार सुस्पष्ट किया है। जीवन-सत्य का मूल है, मनुष्यता की तलाश। कविता की परंपरा बार-बार इसे कहती आई- 'जाति न पूछो साधु की'। यह जीवन-सत्य जब कविता का बेहद निजी और घरेलू व्यापार बन जाता है- तुलसी ने मंगलाचरण में इशारा किया है- तब संकट खड़ा हो जाता है। मुक्तिबोध ने कहा जीवनानुभव और साथी कवियों को रोका-काव्यानुभव से बचो। यह सूत्र हमेशा बना रहेगा।

यदि हम कविता की बात करें तो स्वातंत्र्योत्तर भारत में छांदसिक कविता की घोर उपेक्षा व अवहेलना देखने को मिलती है। हिंदी की मुख्यधारा की आलोचना ने केवल अछांदसिक कविता को ही कविता माना, जिसमें आम पाठक की कोई रुचि नहीं है। क्या आप इसे आलोचना की चूक मानते हैं?

आपका सवाल आधारहीन है। 'राम की शक्तिपूजा', 'कामायनी', 'अंधायुग', 'गीत फरोश', 'सन्नाटा', 'सतपुड़ा के जंगल', 'अकाल', दुष्यंत और उनसे पहले के कवि शमशेर की गजलें, शलभ श्रीराम सिंह की चर्चित नज्म 'हमें जवाब चाहिए- सबकी सब तुकांत रचनाएं हैं। छंद को लेकर अधिकांश कवि-संप्रदाय की समझ अधूरी या एकतरफा है। शमशेर की कविताओं में, अज्ञेय की 'असाध्यवीणा' में, मुक्तिबोध की प्रायः सभी रचनाओं में छंद की बुनियादी मौजूदगी है।

छंद का मतलब तुकांतता से नहीं, लय-विधान और लय संगीत से है। अब अपढ़ किस्म के

लोग छंद का अर्थ तुकांतता माने बैठे हैं तो कोई क्या करे? मुक्तिबोध ने तो अत्यंत पुराने छंदों का पुर्नसंस्कार किया है- मुझे पुकारती हुई पुकार खो गई कहीं।

संस्कृत छंदों में तुक कहीं नहीं है। यानी कि तुकांतता। आप कष्ट करके राधावल्लभ त्रिपाठी का आठवां निर्मल स्मृति व्याख्यान - 'छंदों में दुनिया, दुनिया में छंद' (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली) देख जाइए। मुझे पूरा विश्वास है, आप और तुकांत मंडली का सामूहिक कल्याण होगा।

मैं बात संस्कृत के छंदों की नहीं, उन छंदों की कर रहा हूं जिसमें गीत नवगीत से लेकर गजल तक समाहित है और जिसकी एक पूरी परंपरा दिखाई देती है।

छांदसिक कविता जो लिखी जा रही है, जिसे लोग लिख रहे हैं वह पुराने वातावरण से बाहर नहीं निकल रही है। उसमें अभिनवता नहीं है! जब तक रचना आलोचक को विकल न कर दे, तब तक वह उसे आलोचना का विषय नहीं बना सकता। दुष्यंत के बारे में शमशेर ने भी कहा था कि उन्होंने गजल के फार्मेट को भले न तोड़ा हो लेकिन वे कथ्य को पॉलिटिकल बनाकर संवेदना के स्तर पर ले आए जो पुराने फार्मेट से अलग और नई चीज है। अगर मैं गजल के ही दो कवियों दुष्यंत और अदम गोंडवी की बात करूं तो अदम के यहां गजल डायरेक्ट है और तात्कालिकता से भरी हुई है इसलिए उनकी साहित्य में वह स्थिति नहीं बन पाई जबकि दुष्यन्त के यहां ऐसा नहीं है और वे लंबे समय तक चलने वाले रचनाकार हैं।

देश में अंग्रेजी का बोलबाला लगभग बढ़ रहा है नई पीढ़ियां प्रायः हिंदी से प्रत्येक स्तर पर विमुख हैं। ऐसे में देश में हिंदी साहित्य का भविष्य किस रूप में देख पा रहे हैं?

हिंदी भाषा पर तो नहीं, देवनागरी लिपि पर खतरा जरूर मंडरा रहा है। हिंदी भाषा तो पहले से अधिक बोली सुनी, देखी, पढ़ी जा रही है। अखबार, चैनल, फिल्में, धारावाहिक, आंदोलन और बाजार हिंदी का सहारा ले रहे हैं। हां, गंभीर और बुनियादी मानव मूल्यों को खतरा जरूर है। बाजार ने, ग्लैमरस करिअरवाद ने असली-नकली जो कानवेंटवाद पनपाया है, हिंदी लिपि का विनाश उसकी योजना का एक हिस्सा है, हर हिंदी वाला खुद क्यों अपना हस्ताक्षर अंग्रेजी में करता है, नामपट अंग्रेजी में लिखवाता है, यह क्या है? हिंदी के अधिकांश लेखक अपने रंग-ढंग में परदेशी लगभग एन.आर. आई. -दिखना चाहते हैं। हिंदी आलोचना पश्चिमी चिंतकों का उपनिवेश बन गई है तब वही लोग बचेंगे जो मध्यममार्गी देशी परंपराओं और उनमें छिपे विद्रोह और संघर्ष की चिंनगारियों की अभिव्यक्ति कर पाएंगे।

भारतेंदु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, रेणु और नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र बचेंगे।

हां उभरते और जोर पकड़ते सुविधाजीवी, संघर्ष-भीरु शहरी मध्यवर्ग में अज्ञेय और निर्मल वर्मा क्लासिक के बतौर बचे रहेंगे। समस्त जुझारू और लड़ाकू औरतों के बीच कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा और 'आवां' की चित्रा मुद्गल बचेंगे। 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड', 'और अंत में प्रार्थना' के उदय प्रकाश बचेंगे। ऐसे और अन्य लोग भी हैं, जिनके शब्दों में प्राणदायी ऊष्मा है, वे भी।

साहित्य में हम लगातार पाश्चात्य विचारधाराओं और दर्शनों के प्रभाव में जीते रहे हैं। हम कोई नया भारतीय चिंतन या दर्शन क्यों नहीं दे पा रहे हैं? जबकि संस्कृति व दर्शन की परंपरा की दृष्टि से भारतीय समाज बहुत ही समृद्ध रहा है।

भारत में तमाम गुलाम बौद्धिक नक्कटे दरबारियों की तरह सुसंगठित हैं। वे गांधी को काले सघन बादलों की तरह घेर कर चमकने ही नहीं दे रहे हैं। गांधी की वापसी स्वदेश की स्वराज्य में वापसी है। गांधी आएंगे तो गौतमबुद्ध और महावीर तीर्थंकर की वापसी होगी। कबीर, तुलसी लौटेंगे। ऐसा होगा जरूर, पर वक्त लगेगा। जरा निराला की अंतिम कविता की ये पंक्तियां पढ़ें-

‘लीला का संवरण-समय फूलों का जैसे/फलों फले या झरे अफल/पातों के ऊपर/सिद्ध योगियों जैसे या साधारण मानव ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर।’

तो मित्रवर! यह वही समय है।



हमारे ताऊजी अमरकांत

प्रतुल जोशी

सोमवार 17 फरवरी की सुबह लगभग 11 बजे, मैं आकाशवाणी शिलांग में आफिस का कुछ काम निपटा ही रहा था कि मोबाइल पर आए मैसेज पर निगाह पड़ते ही लगा मानो पांवों के नीचे से जमीन खिसक गई है। इलाहाबाद के एक साथी का मैसेज था 'अमरकांतजी नहीं रहे। कुछ पलों के लिए मैं संज्ञाशून्य हो गया। समझ में ही नहीं आया कि शिलांग में अपना दुःख किससे साझा करूं। आकाशवाणी शिलांग में कुछ ही दिन पहले लखनऊ से स्थानांतरित होकर आया हूं। अभी कुछ ही लोगों से परिचय हुआ है। यहां किसी को बता नहीं सकता था कि यह खबर मुझे कितना दुःख देने वाली खबर थी। एक बड़ा दुःख यह हो रहा था कि अमरकांतजी के अंतिम समय में उनके पास नहीं पहुंच पा रहा हूं।

अमरकांतजी और मेरे पापा (श्री शेखर जोशी) का लगभग 60 वर्षों का साथ था। पचास के दशक में पापा ई.एम.ई. (भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय का एक प्रतिष्ठान) में नौकरी करने इलाहाबाद आए थे और फिर इलाहाबाद में ही लगभग 56 वर्ष रहे। इलाहाबाद में पापा के सबसे निकटस्थ अमरकांतजी ही थे। सन 1956 से 60 के दौरान पापा और अमरकांतजी एक साथ करेलाबाग लेबर कालोनी में रहे। बाद में पापा, करेलाबाग कॉलोनी छोड़कर लूकरगंज आ गए थे लेकिन अमरकांत जी लंबे समय तक करेलाबाग कालोनी में ही रहे। सन् 1965 से अमरकांतजी ने माया प्रेस, इलाहाबाद में नौकरी की और वहां से निकलने वाली महिलाओं की पत्रिका 'मनोरमा' में एक लंबे समय तक संपादक रहे। पापा से उम्र में लगभग 7 वर्ष बड़े होने के कारण हम बच्चे अमरकांतजी को 'ताऊजी' कहकर बुलाते थे। करेलाबाग कॉलोनी से लूकरगंज की दूरी लगभग 4 किमी. की होगी। प्रायः अमरकांतजी हमारे घर आ जाते और जब वह नहीं आते तो हम लोग उनके घर करेलाबाग कॉलोनी पहुंच जाते। यह सिलसिला सत्तर के दशक के आखिरी वर्षों तक चला। इसके बाद अमरकांतजी ने बहुत से मकान बदले। कभी करेली तो कभी दरियाबाद फिर मेंहदौरी कॉलोनी। आखिर में अशोक नगर में छोटा सा अपार्टमेंट खरीदा। वह जहां भी रहे, हम लोगों का आना-जाना उनके घर नियमित रूप से लगा रहा।

पचास के दशक में हिंदी साहित्य में जिस 'नई कहानी' आंदोलन की शुरुआत हुई, उसके अग्रणी लेखकों में अमरकांतजी का नाम लिया जाता रहा है। 'नई कहानी' आंदोलन के अन्य चर्चित लेखक थे राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, भीष्म साहनी आदि। उस दौर के बहुत से लेखकों ने जहां अपने को स्थापित करने के लिए काफी मेहनत की और बड़े-बड़े संस्थानों से जुड़े

जबकि अमरकांतजी बिना किसी महत्वाकांक्षा के इलाहाबाद में करेलाबाग कॉलोनी के एक छोटे से मकान में रहते हुए कहानियां लिखते रहे। 'दोपहर का भोजन' 'जिंदगी और जॉक' 'डिप्टी कलक्टर' 'हत्यारे' जैसी दर्जनों कहानियां अमरकांतजी ने बलिया स्थित अपने मकान में बैठकर लिखीं जो आज हिंदी साहित्य में मील का पत्थर साबित हुई हैं।

मैंने अपने जीवन में अमरकांतजी जैसा विनम्र, प्रतिबद्ध, धैर्यवान और शांत लेखक कोई दूसरा नहीं देखा। सन् 1984 में अमरकांतजी को सोवियतलैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। इस पुरस्कार के तहत उनको रूस की यात्रा का निमंत्रण मिला था। अमरकांतजी रूस के कई शहरों की यात्रा कर जब इलाहाबाद लौटे तो हम लोगों के लिए एक सुंदर घड़ी लेकर आए थे। घड़ी में लकड़ी का छोटा सा पेंडुलम दाएं-बाएं चलता था और एक चिड़िया दो छोटे-छोटे दरवाजे खोलकर हर घंटे बाहर निकलती थी। कुछ दिन वह चिड़िया बाहर आती रही, बाद में पेंडुलम का चलना बंद हो गया और चिड़िया का बाहर निकलना भी लेकिन घड़ी बहुत दिनों तक हमारे घर के ड्राइंग रूम की शोभा बढ़ाती रही। एक दिन मैंने उनसे पूछा कि उनको रूस में क्या अच्छा लगा? अमरकांतजी ने बड़े ही सहज भाव से उत्तर दिया कि रूस में उन्हें सबसे अच्छा लगा कि वहां लेखकों का बड़ा सम्मान है। हर शहर में लेखकों की मूर्तियां शहर के कई चौराहों पर लगी दिखती हैं। लेखकों के घरों को उनकी मृत्यु के सौ वर्षों के पश्चात् भी पूरे सम्मान के साथ सुरक्षित रखा गया था। अमरकांतजी कुछ प्रसिद्ध रूसी लेखकों के घर देखकर भी आए थे।

अमरकांतजी जीवन भर प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े रहे। प्रगतिशील लेखक संघ के आयोजनों और बैठकों की तैयारी के समय वह अत्यंत उत्साह में होते थे। उनके व्यक्तित्व के जिस पक्ष से मैं सबसे ज्यादा प्रभावित था, वह था कि मैंने उनके मुंह से कभी किसी के लिए अपशब्द या बुराई नहीं सुनी। यहां तक की जिन व्यक्तियों ने उनको कभी धोखा दिया, उनके बारे में भी वह कटुता नहीं रखते थे। हर एक के बारे में वह बड़े आदर से बात करते। अपने घरेलू जीवन में उन्होंने अत्यंत आर्थिक दुश्वारियों का सामना किया, किंतु विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी वह अत्यधिक शांत रहते और अपना धैर्य नहीं खोते थे। कोई भी बड़े से बड़ा सम्मान या प्रसिद्धि, उनके लिए अत्यंत सामान्य बात थी। सतत् रचनाशील रहना उनकी जीवनशैली बन गया था।

अमरकांतजी जब भी हमारे घर आते, तो पापा उन्हें छोड़ने खुल्दाबाद तक जरूर जाते। खुल्दाबाद हमारे घर से लगभग एक किमी. दूर है। खुल्दाबाद, एक छोटा सा बाजार है जहां सड़क के दोनों तरफ दुकानें हैं। खुल्दाबाद के मोड़ पर खड़े हो, दोनों काफी लंबे समय तक बातें किया करते। इस बातचीत में साहित्य की स्थिति, किस लेखक ने क्या नया लिखा, कौन सी नई साहित्यिक पत्रिका प्रकाशित हुई जैसे साहित्य से जुड़े तमाम विषय शामिल होते।

सत्तर के दशक में अमरकांतजी सिगरेट खूब पीते थे। उनका मुंह से धुंए के गोल-गोल छल्ले निकालना मुझे बेहद पसंद आता था। यद्यपि बाद में उन्होंने सिगरेट छोड़ दी थी। अमरकांतजी शतरंज भी बहुत अच्छा खेलते थे। एक बार हम बच्चों को शतरंज खेलने का जुनून चढ़ा। दिन-रात हम लोग शतरंज में डूबे रहते। उसी दौरान अमरकांतजी घर आ गए। मैंने उनसे कई बाजियां खेलीं और हर बार हारा। वह समझाते कि देखो शतरंज में प्रतिद्वंद्वी के मोहरों को तुरंत खत्म करने की बजाए, बेहतर है कि एक सुलझी हुई रणनीति से मात दी जाए। औसत कद के, गौरवर्ण अमरकांतजी हमेशा

बहुत शांति से बात करते।

सन 1988 में मैंने इलाहाबाद छोड़ दिया था। आकाशवाणी में अपनी नौकरी के चलते कानपुर, लखनऊ, ईटानगर रहता रहा लेकिन जब भी मैं इलाहाबाद जाता, पूरी कोशिश करता की एक बार अमरकांतजी से मिलूं, उनके दर्शन करूं। लगभग 6 माह पूर्व, पिछले वर्ष सितंबर के महीने में आखिरी बार उनसे मुलाकात हुई। उन वक्त मुझे लगा कि शायद उन्हें विस्मृति की बीमारी हो रही है। मुझे पहचानने में उन्हें कुछ दिक्कत हो रही थी। अमरकांतजी के कनिष्ठ पुत्र अरविंद बिंदु ने उनसे कहा प्रतुल आए हैं। सुनकर ताऊजी थोड़ी देर तक मुझे पहचानने की कोशिश करते रहे फिर लगा कि उन्होंने मुझे पहचान लिया है। वह हमेशा की तरह गर्मजोशी से बोले 'और क्या हाल-चाल हैं? कैसे हो?' मैं अंदर ही अंदर जैसे कराह उठा। मैंने मन ही मन कहा 'ओह ताऊजी, जीवन भी कितना कठोर है। बचपन से मैं आपकी गोद में ही पला-बढ़ा और आज उम्र के इस पड़ाव पर आकर आप कितने मजबूर हो गए हैं। अब मुझको पहचानने में भी आपको इतना वक्त लग रहा है।'

ताऊजी से मिलने के बाद पहली बार मुझे बेहद अफसोस हो रहा था। उनकी स्मृति के खत्म हो जाने का अंदेशा मुझको भीतर ही भीतर कहीं गहरे तक लग रहा था। यह सोचकर और दुख हो रहा था कि जिस व्यक्ति ने अपनी गंभीर बीमारी के बावजूद कई कहानियों और उपन्यासों की रचना की थी, वह अंततः अपनी उम्र से हारता सा दिख रहा था। हड्डियों की बीमारी ऑस्टियोपोरोसिस से वह लगभग 17 वर्षों तक जूझते रहे। अपनी इस गंभीर बीमारी के बावजूद उन्होंने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास 'इन्हीं हथियारों से' लिखा। इस उपन्यास के लिए उन्हें साहित्य अकादेमी और व्यास सम्मान भी प्राप्त हुए।

अमरकांतजी से मिलने के बाद लगातार मैं उनके हालचाल अपने मित्रों, परिचितों से लेता रहा। जिससे भी बात करता, वह कहता कि वह बिल्कुल ठीक हैं। जानकर बेहद खुशी होती। अचानक जब 17 फरवरी की सुबह जब अमरकांतजी के निधन की खबर मिली तो लगा कि यह क्या हो गया। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके घर फोन कर बात की तो पता चला कि एक दिन पहले तक वह पूर्णतया स्वस्थ थे। चार-पांच लोगों की एक टीम उनके यहां आई थी और उन्होंने एक इंटरव्यू भी दिया था लेकिन दूसरे ही दिन हृदयगति रुकने से उनका देहावसान हो गया। अमरकांतजी पर एक फिल्म मेरे छोटे भाई और फिल्मकार संजय जोशी ने साहित्य अकादेमी के सहयोग से बनाई है।

अब अमरकांतजी हम लोगों के बीच नहीं हैं लेकिन उनकी रचनाएं अभी कई पीढ़ियों को सुसंस्कारित करती रहेंगी। निम्न मध्यम वर्ग की पीढ़ा को उन्होंने जिस कलात्मकता के साथ अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है, वैसा हिंदी साहित्य में कम ही लेखकों ने लिखा है। उनका इस दुनिया से जाना, एक विलक्षण प्रतिभा का संसार से चले जाना है। न केवल उनकी रचनाओं वरन् उनके जीवन से भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। अमरकांतजी अपनी रचनाओं के माध्यम से हमारे बीच सदैव अमर रहेंगे।

(लेखक आकाशवाणी शिलांग से जुड़े हुए हैं)

विद्रोह और यातना का कवि नामदेव ढसाल

राजेंद्र मुंढे

आधुनिक मराठी कविता में बुनियादी परिवर्तन करने और मध्यधारा की कविता को नया मोड़ देने वाले बा.सी. मर्ढेकर के बाद के तीन महत्वपूर्ण कवि अरुण कोलटकर, दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे और नामदेव ढसाल हैं। तीनों कवि साठोत्तर कविता से आए हुए कवि हैं। कोलटकर और चित्रे के बाद अब नामदेव ढसाल भी नहीं रहे। ढसाल का जाना मराठी कविता के लिए एक कवितायुग का धम जाना है। ढसाल मराठी में ही नहीं, सारे भारत में अपनी प्रखर विद्रोही कविता के कारण जाने जाते हैं। ढसाल का नाम दलित कविता से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। अपनी 48 वर्षों की साहित्य यात्रा में 'गोलपीठा' ('गोलपीठा', 1971) मराठी में एक ज्वालामुखी तरह फटा और उसने मराठी कविता को हमेशा के लिए बदलकर रख दिया। 'गोलपीठा' के बाद 'मूर्ख म्हातान्याने डोगर हलवले' ('मूर्ख बूढे ने पहाड़ों को हिला दिया', 1976), 'आमच्या इतिहासातील एक अपरिहार्य पात्र : प्रियदर्शनी', ('हमारे इतिहास का एक अपरिहार्य पात्र : इंदिरा गांधी', 1976), 'तुही इयत्ता कंची? तुही इयत्ता.....' ('तू कौन सी में पढ़ता है? कौन सी में....1981), 'खेल' ('खेल', 1983), 'गांडू बगीचा' ('गांडू बगीचा' 1981), 'या सत्तेत जीव रमत नाही' ('इस सत्ता में जी नहीं लगता', 1995) 'मी मारले सूर्याच्या रथाचे सात घोडे' ('मैंने मार दिए सूर्य के रथ के सात घोडे', 2005), 'तुझे बोट', धरून चाललो आहे' ('तुम्हारी अंगुली पकड़कर चल रहा हूँ मैं', 2006) 'निर्वाणा अगोदरची पीडा' ('निर्वाण के पहले की पीड़ा', 2010) इन दस कविता संग्रह के साथ 'हाडकी हडवला' और 'निगेटिव्ह स्पेस' यह दो उपन्यास भी लिखे थे और राजकीय-सामाजिक साहित्यिक चिंतनपरक लेखों के चार संकलन प्रकाशित हुए, जीवन के अंतिम दिन तक अस्पताल के बिस्तर पर लेटे होने के बावजूद वे 'सर्व काही समष्टीसाठी' शीर्षक साप्ताहिक स्तंभ एक मराठी समाचारपत्र के लिए लिखते रहे।

ढसाल का जन्म पुणे के पास पूर-कनेसर नामक देहात में हुआ था। लेकिन उनका बचपन मुंबई की झोपड़पट्टी में बीता! उन्हें स्कूल शिक्षा भी ठीक तरीके से, सर्वसाधारण बच्चों जैसी नहीं मिली। मुंबई के रसातलों का जीवन ही उनका स्कूल था। बचपन में उन्होंने जो देखा, जिस कठिन और अमानवीय सामाजिक परिवेश का सामना किया, वही बाद में उनकी कविताओं की कच्ची सामग्री बना। उनका पहला कविता संग्रह 'गोलपीठा' उनकी आयु के 24 वें वर्ष में छपा था। 'गोलपीठा' मुंबई की कुख्यात वेश्या बस्ती का नाम है और इस संकलन की कविताओं में उसी बस्ती के वर्जित अनुभव और भाषा का सीधा और सहज लेकिन सशक्त काव्यांकन है। इस संकलन ने मराठी साहित्य जगत में पहला 'दलित' विस्फोट कर मध्यमवर्गीय संवेदना पर जबरदस्त आघात किया। 'गोलपीठा' ने

नामदेव ढसाल कवि के रूप में बेहद विस्तार देकर स्थापित किया ।

सातवें दशक में लघुपत्रिकाओं ने ग्रांथिक भाषा के विरोध में बोलचाल का मुहावरा प्रवर्तित किया था, ढसाल की कविता ने एक कदम आगे उठाया । मध्यमवर्गीय मानकीकृत भाषा के दायरे से बाहर निकल गए कई शब्द जो दलित की ही तरह अछूत माने जाते थे, ढसाल की कविताओं में नए संदर्भों के साथ पहली बार अवतीर्ण हुए! एक नई, अनवट, तेजतर्र और दाहक भाषा के जरिए ढसाल ने अपना विद्रोह व्यक्त किया । ढसाल की काव्यगत शैली संतप्त विद्रोही प्रस्फोटक है और उन प्रवहमान जीवंत गद्यल्पदृश्य लयबंदिशों में भद्दी गालियां भी भभकते अनुभवों के सहारे कविता का, सृजन का अनिवार्य आंतरिक अंश बन जाती है । चूंकि शैली का आशयानुगामित्व निर्विवाद है, ढसाल की शैली महानगर की निम्नस्तरीय बस्तियों में, फुटपाथ पर, वेश्यालयों में पीड़ा और यातनाओं की नारकीय जिन्दगी से गुजरते हुए लोगों का अनुभव संसार अधोरेखित करती है । ढसाल की 'पानी' कविता में-

*‘पानी को जातपात का रंग देनेवाले तुम्हारे
एकमात्र ईश्वर को लग जाएगा अफलातून पाखाना
और फिर तुम्हें धोती के पल्ले गीले रखने के लिए
भीख मांगनी पड़ेगी पानी की
हम तुम्हें पानी से भरे हुए कमोरे देंगे
ऐ जालिमो,*

पानी जैसा दूसरा बेहतरीन कर्तव्य नहीं होता कुछ भी दुनिया में' (गोलपीठा) इस तरह उजागर होता है । यह कविता दलित कविता की एक महान उपलब्धि है जो गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता का दस्तावेज है ।

*‘कुत्ता और जनतंत्र का गाना’, में-
‘पन्द्रह अगस्त एक संशयास्पद महाकाय भगोष्ठ
स्वतंत्रता नाम है किस गदही का
रामराज्य के कौन-से घर में रहते हैं हम
उद्गम, विकास, उंचे संस्कार, संस्कृति
मूलभूत अर्थ क्या है स्वतंत्रता का?’ (गोलपीठा - पृ. 72)*

नामदेव ढसाल मराठी दलित लेखकों में अपनी लेखकीय प्रतिबद्धता के कारण जाने ही नहीं बल्कि माने भी जाते हैं । मराठी में नामदेव ढसाल ने स्वाधीनता की परिभाषा पर प्रश्नचिह्न लगाया है । कवि स्वाधीनता के प्रति तथा व्यवस्था के प्रति घृणा प्रस्तुत करता है । देश के आजाद होने के उपरांत स्वाधीन देश से कुछ आशा-आकांक्षाएं एवं उम्मीदें थीं लेकिन पूरे सपने चकनाचूर हो गए । यहां तक कि स्वाधीन भारत में मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होना भी दूबर हुआ है इसलिए कवि नामदेव ढसाल स्वयं को स्वाधीनता की परिकल्पना से अनभिज्ञ मानते हैं ।

और 'व्हायलन्स का पेड़', 'भूख' जैसी कविताएं दूसरी ओर गहरी राजनीतिक सचेतता के साथ मार्क्सवादी प्रतिबद्धता का प्रमाण देती हैं ।

लघु नियतकालिकों आंदोलन से आए ढसाल पर एक प्रखर दलित कहानीकार बाबूराव बागुल के कारण नामदेव ढसाल ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम कविता को बनाया । वे स्वयं 'विद्रोह'

नामक एक लघुपत्रिका निकालते थे। उनका कहना था कि उन्होंने जिस जिंदगी को जिया था, वहां के अनुभव मध्यवर्गीय साहित्य में वर्जित माने जाते थे। लघु पत्रिकाओं ने भाषा की तथा अनुभवों की निषिद्धता को खारिज किया और ढसाल जैसे कई नए कवियों में आत्मविश्वास जगाया। ढसाल ने साहित्य से प्रेरणा लेकर महसूस किया कि राजनीति के बगैर समाज में परिवर्तन असंभव है। कविता को वे राजनीति का हथियार मानते थे। हजारों वर्षों से विषमता का शिकार बने हुए दलित समाज की अस्मिता को जीवित करने के लिए उन्होंने राजा ढाले, अर्जुन डांगले, ज.वि. पवार आदि साथियों के सहयोग से 'दलित पेंथर' की स्थापना की। बाद में उन्होंने कई पार्टियां बदलीं, लेकिन अपने लेखन में और कविता में किसी भी पार्टी की भूमिका को स्थान नहीं दिया, किसी भी तरह का समझौता नहीं किया। वे सिर्फ दलितों की वर्ग-वर्ण विषयक समस्याओं को, दलितों की यातनाओं को, दर्द को, दुखों को और सामाजिक-राजनीतिक विषमताओं को अपनी रचनाओं और चिंतन का विषय बनाते रहे।

नामदेव ढसाल को भारतीय काव्यधारा में लाने का कार्य चंद्रकांत पाटील और दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे जैसे समकालीन कवि मित्रों ने किया। पाटील ने उसके प्रारंभिक अनुवाद हिंदी में किए और करीब पैंतीस वर्ष पहले ग्वालियर में सुदीप बनर्जी द्वारा आयोजित हिंदी की ऐतिहासिक पहली दलित साहित्य संगोष्ठी में नामदेव ढसाल छा गए। उधर दिलीप चित्रे यूरोप, विशेषतः जर्मनी, को नामदेव और दलित साहित्य से परिचित करवाने में आजीवन जुटे रहे। इसमें हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय के प्राध्यापकद्वय ग्युन्टर जॉंठाइमर तथा लोठार लुत्से और म्यूनिख के फिल्मकार-फोटोग्राफर हेनिंग श्टेगम्युलर ने क्रमशः अपने अनुवादों और चित्र-पुस्तकों के माध्यम से महत्वपूर्ण भूमिका निबाही। यूरोप में जिन समसामायिक कवियों को विशेष स्वीकृति मिली है उनमें नामदेव ढसाल अन्यतम हैं। दिलीप चित्रे का तो मानना था कि यदि भारत से किसी कवि को नोबेल पुरस्कार मिलना चाहिए तो एकमात्र नामदेव ढसाल को। हिंदी के कवि-आलोचक विष्णु खरे कहते हैं, 'यदि उसके अनुवाद कुछ और यूरोपीय भाषाओं में हो जाते तो शायद वह संभव भी था। मेरी धारणा यह है कि आज के भारत में सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से रवींद्रनाथ ठाकुर से कहीं बड़ा, प्रासंगिक कवि नामदेव है।

नामदेव ढसाल की कविता ने, अपने महान पूर्वज दलित-संत चोखामेला की तरह, मराठी भाषा कविता और अन्य विधाओं को तो बदला ही, अपनी दलित बिरादरी को अपूर्व नेतृत्व, आत्मविश्वास, साहस और गरिमा से समृद्ध किया। उन्होंने गैर-दलित साहित्यिक प्रतिष्ठानों को विवश किया कि उनके जैसी कविता को ही समसामायिक मराठी की मुख्यधारा मान लिया जाए। कितने श्रेष्ठ दलित कवि, गद्यकार, नाटककार और आलोचक उनसे प्रेरित हुए और हो रहे हैं। नामदेव ढसाल अपने जीवन-काल में ही ऐसा क्लासिक बन गए थे जिसका महत्व मराठी से बाहर भी बढ़ता गया। भारतीय दलित साहित्य ने देश में ही नहीं, विश्व स्तर पर जो प्रतिष्ठा और अनिवार्य स्वीकृति अर्जित की है, उसके केंद्र में नामदेव ढसाल हैं।

नामदेव ढसाल की काव्य लेखन में निरंतरता रही है, और हर एक संकलन में अधिकाधिक प्रगल्भता आती रही। उनका अंतिम संकलन 'निर्वाणा अगोदरची पीडा' विशेष उल्लेखनीय है। इस संकलन में पर्यावरण का विनाश, वैश्वीकरण, मुंबई का इतिहास, भूगोल, Cry to Mumbai शीर्षक से चार कविताएं, निर्वाण के पहले की पीड़ा, भयवहता, डॉ. बाबासाहब अंबेडकर, 'चिध्याची देवी' आदि

कई विषयों-व्यक्तिपरक कविताएं हैं। ढसाल का यह संकलन मराठी साहित्य के लिए श्रेष्ठ काव्य कृति है।

मराठी-भारतीय कविता को नकार और त्रिदोह का क्रांतिशास्त्र प्रदान करके, जो कि ज्वालाग्रही स्फोटक परंपरा निर्माण कर, सर्वहारा वर्ग का दुःख, शोषण मुक्ति आंदोलन की रणनीति और उसके लिए जर्मनी भाषा की रचना करके ढसाल की कविता का बड़ा योगदान रहा है। उनका नकार शास्त्र विध्वंसकारी और विद्रोह प्रखर होते हुए भी अंतिमतः वह मानव कल्याण की मनीषा रखता है। समतावादी विवेकशील समाज का निर्माण की परिभाषा करने वाली उनकी कविता अंबेडकरी विचार विश्व को प्रबोधन परंपरा का प्रखर प्रभावी आविष्कार है। इस तरह की अभिव्यक्ति भारतीय कविता में विरल है। ढसाल की कविता मानवता मूल्य श्रेष्ठ और अंतिम समझती है, उस पर श्रद्धा रखती है, वास्तविक क्रांतिगर्भ, युगसंवादी और मानवसंबद्ध होने से सर्वकालिक है, और नया प्रगतिशील इतिहास निर्माण करने वाली चेतना की चिंगारी है। इसीलिए नामदेव ढसाल की कविता दलित-भारतीय कविता के दायरे से उठकर विश्वकविता के मेज पर विराजित है।



(लेखक मराठी साहित्य के अध्येता हैं)

हम और हमारे पड़ोसी राष्ट्र

मुचकुंद दुबे

भारतीय विदेश सेवा के अधिकारी रहे पूर्व विदेश सचिव मुचकुंद दुबे अंतरराष्ट्रीय मामलों के प्रमुख विद्वानों में एक हैं। उनके द्वारा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के 16वें स्थापना दिवस (29 दिसंबर 2013) के अवसर पर दिए गए महत्वपूर्ण विचारोत्तेजक व्याख्यान को पाठकों के लिए अविकल प्रस्तुत किया जा रहा है :

वर्धा-नगरी का गांधीजी की कर्मभूमि के रूप में प्रत्येक भारतीय के हृदय में अन्यतम स्थान है। यह शहर हमारे स्वतंत्रता-संग्राम के बलिदान एवं उसके अरमानों से जुड़ा है। इसका मैंने अब तक नाम ही सुना था पर आज यहां आकर मुझे जितनी प्रसन्नता हो रही है, उसका मैं अनुमान भी नहीं लगा सकता।

मैं अपने इस व्याख्यान के द्वारा भारत की विदेश नीति के एक अहम पहलू पर प्रकाश डालना चाहता हूं। और वह है- अपने पड़ोसी राष्ट्रों से अपने संबंध किस तरह निभाए जाएं। प्रत्येक राष्ट्र अपनी विदेश नीति के प्रतिपादन एवं संचालन में पड़ोसी देशों के साथ के संबंधों को उच्चतम प्राथमिकता प्रदान करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि दुनिया के अन्य राष्ट्र हमें अपने पड़ोसियों की निगाहों से ही देखते हैं। विश्व रंगमंच पर हमारी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पड़ोसी राष्ट्रों से अच्छे संबंध निभाने पर निर्भर करती है। पड़ोसियों के साथ प्रतिकूल संबंध विश्व राजनीति में वांछित रोल अदा करने में सबसे बड़ी बाधा साबित हो सकती है। मसलन, मेरी समझ से जब तक पाकिस्तान के साथ के हमारे रिश्तों में तलखी बनी रहेगी, तब तक कोई भी भारतीय संयुक्त राष्ट्र संघ का महासचिव नहीं हो सकता। इसके अलावा यू.एन. सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बनने के मार्ग में भी सबसे बड़ी बाधा है, पाकिस्तान के साथ हमारा प्रतिकूल संबंध।

पड़ोसियों के साथ हमारे संबंधों का प्रत्यक्ष असर हमारी सुरक्षा पर पड़ता है। इसमें सामरिक और गैर-सामरिक, दोनों प्रकार की सुरक्षा शामिल है। चीन और पाकिस्तान से हमारी सुरक्षा को प्रत्यक्ष सामरिक खतरा है, जबकि अन्य सभी पड़ोसी राष्ट्रों से हम गैर-सामरिक खतरे के साए में हैं। इन गैर-सामरिक खतरों में शामिल है : इन देशों के आंतरिक जातीय कलह के भारत तक फैलने की संभावना, वहां से बड़े पैमाने पर अवैध प्रवासन का खतरा और उनके द्वारा भारत में आतंक फैलाने वाले तत्वों को पनाह देना। यह कई सूत्रों से प्रमाणित हो चुका है कि पाकिस्तान, नियंत्रण रेखा एवं अंतरराष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन कर भारत में दहशत फैलाने के कार्य में आतंकवादियों की मदद कर रहा है। इसके लिए पाकिस्तान की सरकार ने उन्हें अपनी संस्थाएं एवं प्रशिक्षण केंद्र चलाने की

अनुमति दी है। यह पाकिस्तान की जम्मू और कश्मीर में विद्रोह भड़काने एवं भारत की राजनीतिक स्थिति को अस्थिर बनाए रखने की रणनीति का एक अविभाज्य अंग है। बांग्लादेश ने कई सालों से असम संयुक्त मुक्ति मोर्चा एवं अन्य गिरोहों को भारत में दहशत फैलाने के लिए अपने सीमावर्ती इलाकों में प्रश्रय दे रखा है और प्रशिक्षण केंद्र चलाने की इजाजत दी है। इस प्रकार, हमारे इस पड़ोसी राष्ट्र ने भारत के उत्तर-पूर्वी इलाके में अस्थिरता बनाए रखने में मदद की है। बांग्लादेश से भारत की सुरक्षा के लिए दूसरा गैर-सामरिक खतरा है-वहां के नागरिकों का बड़े पैमाने पर भारत में गैर-कानूनी प्रवासन। इससे भारत के सीमावर्ती इलाकों में कानून-व्यवस्था की समस्या जटिल हो गई है और वहां के बाशिंदों का आर्थिक और सामाजिक बोझ गुरुतर हो गया है। बांग्लादेश और श्रीलंका, दोनों पड़ोसियों से भारत ने जातीय हिंसा एवं अल्पसंख्यकों पर हुए जुल्म से त्रस्त शरणार्थियों के प्रवेश की समस्या का सामना किया है। बांग्लादेश से चकमा (बौद्ध) एवं हिंदू शरणार्थी और श्रीलंका से तमिल शरणार्थी भारत में आते रहे हैं।

नेपाल के असहयोग के कारण भारत और नेपाल से होकर बहने वाली किसी भी नदी के पानी के उपयोग के लिए बांध बनाना संभव नहीं हो पाया है। इसके चलते भारत को अपार क्षति हो रही है। नदियों में गाद भर रहा है जिससे भारत के मैदानी इलाकों में आने वाले बाढ़ों की संख्या और तीव्रता में काफी वृद्धि हुई है। इसके चलते जान-माल की अपार क्षति हो रही है। नेपाल के असहयोग के कारण इन नदियों की बेशुमार जलविद्युत क्षमता का शोषण नहीं हो पा रहा है और न ही सूखाग्रस्त गंगा-सिंचित भारतीय भूमि में सिंचाई के लिए इन नदियों के पानी का प्रयोग हो पा रहा है।

पड़ोसी राष्ट्र आर्थिक मामलों में हमारे स्वाभाविक सहयोगी हैं। इसका कारण है भौगोलिक समीपता, सामान्य भाषाएं, धर्म एवं खान-पान की प्रणाली और उपनिवेशकाल से चली आ रही सामान्य संस्थागत एवं भौतिक संरचना। इन साधनों से सेवाओं एवं वस्तुओं के आदान-प्रदान में होने वाले खर्चों में कमी होती है जिससे दक्षिण एशिया के बाहर के देशों की अपेक्षा भारत को तुलनात्मक फायदा होता है। 1977 में श्रीलंका और 1982 में बांग्लादेश द्वारा व्यापारिक उदारीकरण नीति के अपनाने के बाद भारत के लिए इन देशों के बाजारों में ये फायदे बड़े पैमाने पर प्रतिफलित हुए। भारत इन देशों को सर्वाधिक निर्यात करने वाले राष्ट्र के रूप में उभरकर आया है। बांग्लादेश के बाजार में निर्यात करनेवालों में हम अपना पहला स्थान 2005-06 तक बनाए रख पाए। उस साल चीन ने हमें दूसरे स्थान पर ढकेल दिया और अब तक स्थिति यथावत है। श्रीलंका के बाजार में साल 2000 में भारत-श्रीलंका मुक्त बाजार संधि के अमल में आने के बाद भारत ने पहला स्थान बना लिया, जो स्थिति अब तक कायम है।

1982-83 में बांग्लादेश को हमारा निर्यात 43.33 मिलियन डॉलर का था। 2008-09 में यह बढ़कर 3.5 बिलियन डॉलर के बराबर हो गया। ताजातरीन आंकड़ों के मुताबिक यह अंक बढ़कर करीब 4.5 बिलियन डॉलर हो गया है। भारत से बांग्लादेश का गैर-कानूनी यानी तस्करी-आयात उतना ही है जितना कानूनी आयात। अगर हम इन दोनों रकमों को जोड़ दें तो भारत का बांग्लादेश को जाने वाला कुल निर्यात करीब 9 से 10 बिलियन डॉलर का है। यह रकम और भी बढ़ी हो जाएगी अगर हम इसमें बांग्लादेश को जाने वाली सेवाओं से होने वाली आमदनी को जोड़ दें। सेवाओं से आमदनी उन बांग्लादेशियों से होती है जो शिक्षा प्राप्त करने या डॉक्टरी इलाज के लिए भारत आते

हैं। इस श्रेणी में आने वालों की संख्या काफी बड़ी है।

भारत-पाकिस्तान के बीच का व्यापार दशकों से नियंत्रित और सीमित रहा है। पाकिस्तान भारत को एम.एफ.एन. (मोस्ट फेवर्ड नेशन) की सुविधा नहीं देता है। इसका मतलब है, यह देश हमें अन्य देशों की तुलना में समानता से व्यापार करने नहीं देता। हम पाकिस्तान को उन्हीं सामानों का निर्यात कर सकते हैं जो पाकिस्तान द्वारा बनाई गई भारत से आने वाले सामानों की सूची में शामिल हैं। इस प्रतिबद्धता के बावजूद, 2007-08 में पाकिस्तान को भारत का निर्यात करीब 2 बिलियन डॉलर था, जबकि 2001-02 में इस देश को भेजा जाने वाला हमारा निर्यात केवल 144 मिलियन डॉलर था। इससे संकेत मिलता है कि हमारे निर्यात में पिछले कुछ वर्षों से काफी वृद्धि हो रही है। अनुमान लगाया गया है कि सिंगापुर और दुबई से होकर पाकिस्तान को भेजा गया हमारा अवैध निर्यात 1 और 2 बिलियन डॉलर के दरमियान है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि यदि पाकिस्तान भारत के साथ एमएफएन के आधार पर व्यापार करना शुरू कर दे तो दोनों देशों के बीच का कुल व्यापार 5 साल के अंदर बढ़कर 10 बिलियन डॉलर एवं 10 साल के अंदर 25 बिलियन डॉलर पहुंच जाएगा।

इन आंकड़ों से पता चलता है कि आर्थिक एवं व्यापारिक दृष्टि से पड़ोसी राष्ट्र हमारे लिए कितने महत्वपूर्ण हैं और उनके साथ के हमारे संबंधों के सामान्य एवं प्रगाढ़ होने से हम और हमारे पड़ोसी राष्ट्रों की प्रगति एवं सुख-समृद्धि में कितनी वृद्धि हो सकती है।

भारत जैसे अनेकवादी समाज के लिए पड़ोसी राष्ट्रों के साथ अच्छा संबंध निभाना और भी आवश्यक हो जाता है। पड़ोसी राष्ट्रों में होने वाली घटनाओं का अपने अनेकवादी समाज को एकबद्ध रखने की हमारी क्षमता पर बहुत बड़ा असर पड़ता है। मसलन, यदि बांग्लादेश या पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का बड़े पैमाने पर हनन या उनके साथ अत्याचार के कांड हों तो उसके प्रतिक्रियास्वरूप भारत में सांप्रदायिक दंगे भड़क सकते हैं जिससे हमारे अल्पसंख्यकों की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। इसका उलटा होना भी उतना ही सही है। अगर भारत में अल्पसंख्यकों की जान-माल पर आघात होता है, तो हमारे पड़ोसी राष्ट्रों की अपने अनेकवादी समाज की रक्षा करने की क्षमता कमजोर हो जाएगी। इसके चलते उन देशों के अल्पसंख्यक- बौद्ध, हिंदू, इसाई- तबाह हो जाएंगे।

(क) राष्ट्रीय पहचान का संकट :

पड़ोसी राष्ट्रों से संबंध निभाने में भारत को कुछ विशिष्ट समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनमें सबसे प्रमुख है राष्ट्रीय-पहचान की समस्या। हमारे सभी पड़ोसी राष्ट्र हमारे रूबरू राष्ट्रीय पहचान के संकट का अनुभव करते हैं। वह प्रत्येक वस्तु, गुण या तत्त्व जिसे वे अपना बनाना चाहते हैं या जिसके साथ वे तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं, उन्हें भूतपूर्व भारतीय उपमहादेश से थाती के रूप में मिला है। यह चाहे वह उनका इतिहास हो या उनकी भाषा, उनका धर्म, कला, रहन-सहन, रीति-रिवाज, किंवदंतियां या लोकवार्ता। अपने राष्ट्रीय आत्म-पहचान को अभिव्यक्त करने या दावेदार बनने के लिए वे जिस दिशा में भी मुड़ते हैं वहां वे भारत की लंबी गहरी छाया सतत विद्यमान पाते हैं। इस कारण वे अपने को भारत से भिन्न साबित करने के लिए तरह-तरह के अजीब साधनों एवं उपायों का सहारा लेते हैं। विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में वे इतिहास को विकृत करते हैं, मान्य तथ्यों एवं आंकड़ों को तोड़-मरोड़कर रख देते हैं। भारतीय उपमहादेश के विश्वविख्यात और पहचान-प्राप्त भोजन, पोशाक, संगीत एवं नाट्य शैली को पाकिस्तानी, बांग्लादेशी, नेपाली आदि पुकारना शुरू कर

देते हैं। इसी वजह से भारत से पुस्तक, कैसेट, वीडियो एवं अन्य सांस्कृतिक सामग्रियों के आयात पर भी वे प्रतिबंध लगा देते हैं और भारतीय सांस्कृतिक प्रतिनिधियों या मंडलों को अपने यहां आने से रोक देते हैं। उन्हें भय है कि यदि वे ऐसा प्रतिबंध या नियंत्रण बनाए न रखें तो उनकी राष्ट्रीय आत्म-पहचान बनाने की चेष्टा विफल हो जाएगी। इसके बावजूद इन देशों के लोगों की एक दूसरे के नजदीक आने की इतनी उत्कट अभिलाषा है कि जब कभी राजनीतिक संबंधों में सुधार होता है, सांस्कृतिक आदान-प्रदान की शुरुआत हो जाती है।

राष्ट्रीय आत्म-पहचान के संकट से उत्पन्न होने वाली समस्या का सामना भारत प्रत्येक पड़ोसी राष्ट्र से करता है। परंतु, पाकिस्तान के साथ यह समस्या तीव्रतर रूप धारण कर लेती है। इसका कारण यह है कि इस पड़ोसी के साथ राष्ट्रीय आत्म-पहचान की समस्या के अलावा 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत (टू नेशन थ्योरी) की समस्या जुड़ जाती है। पाकिस्तान-निर्माण में अग्रणी मुहम्मद अली जिन्ना एवं अन्य नेताओं ने दलील दी थी कि हिंदू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं जो साथ नहीं रह सकते इसलिए इन दोनों धर्मानुयायियों के लिए दो अलग-अलग राष्ट्रों का निर्माण होना चाहिए। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के गांधी, नेहरू एवं मौलाना आजाद जैसे नेताओं ने इस तर्क को नहीं माना। अंततः, 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान बना, जबकि नया भारत धर्मनिरपेक्षता के आधार पर गठित हुआ। यदि इतना ही होता तो कोई विपत्ति नहीं होती परंतु, दुर्भाग्यवश पाकिस्तान ने धर्मनिरपेक्ष भारत को अपने 'टू नेशन थ्योरी' पर आधारित अस्तित्व पर सबसे बड़ा, मूलभूत और दायमी खतरा समझा। इसलिए इसके शासक वर्गों ने भारत के साथ अनवरत शत्रुता की नीति अपनाई। इन्होंने न केवल अन्य पड़ोसियों की तरह भारत से एक पृथक पहचान बनाने की चेष्टा की, बल्कि भारत के प्रतिकूल पहचान बनाने में संलग्न हो गए। इन्होंने न केवल भारत उपमहादेशीय इतिहास, संस्कृति आदि को विकृत करना शुरू कर दिया, बल्कि भारत की धर्मनिरपेक्षता के ऊपर खुल्लमखुल्ला प्रहार करना भी शुरू कर दिया। ये भारत को एक हिंदू राष्ट्र एवं भारतीय धर्मनिरपेक्षता को एक ढोंग के रूप में चित्रित करने में लग गए। इसका कारण यह था कि यदि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में खरा उतरा तो पाकिस्तान की 'टू नेशन थ्योरी' की धज्जी उड़ जाती और इसके ऊपर आधारित पाकिस्तानी राज्य वहां की ही जनता की नजर में खोखला दिखने लगता। 1971 में बांग्लादेश के आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक कारणों से पाकिस्तान से अलग होने के कारण 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत पर गहरा आघात पहुंचा परंतु, पाकिस्तान इस नीति पर अभी भी अडिग है और इसका परिणाम भारत को अभी भी भोगना पड़ रहा है।

कश्मीर पर पाकिस्तान का दावा इसी 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत पर टिका है। पाकिस्तानी हुक्मरानों ने उच्चतम स्तर पर, कश्मीर को भारत-विभाजन का एक अपूर्ण एजेंडा करार दिया है। उनका मानना है कि एक राज्य के रूप में पाकिस्तान तब तक पूर्ण नहीं होगा जब तक मुस्लिम-बहुल कश्मीर इसका एक हिस्सा नहीं बन जाता। पाकिस्तान के इस तर्क का परिणाम भारत के अन्य मुसलमानों के लिए एवं स्वतः पाकिस्तान के लिए भी भयावह हो सकता है।

'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के पाकिस्तानी सिद्धांत का दूसरा दुष्परिणाम है, पाकिस्तानी हुक्मरानों द्वारा भारतीय मुसलमानों की स्थिति को लेकर भारत के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करना। जब कभी

पाकिस्तान की निगाह में भारतीय मुसलमानों पर जुल्म होता है या उनके मानवाधिकार का हनन होता है तो पाकिस्तान न केवल द्विपक्षीय स्तर पर भारत सरकार के समक्ष यह मामला उठाता है बल्कि अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी इसे उछालता है। इसके द्वारा यह न केवल अपने लोकमत का तुष्टीकरण करता है, बल्कि भारत की धर्मनिरपेक्षता की नीति का भी उपहास उड़ाता है। पाकिस्तान परवाह नहीं करता कि इसकी इस नीति से भारतीय मुसलमानों के हितों की कितनी क्षति होती है क्योंकि पाकिस्तानी हस्तक्षेप की प्रक्रिया में वे राष्ट्रीय जीवन की मूल धारा से विमुख हो जाते हैं।

दुनिया में बहुत ऐसे राज्य हैं जिन्होंने धर्म के आधार पर अपने को संगठित किया है लेकिन, इसका मतलब यह नहीं होना चाहिए कि वे अन्य सिद्धांतों के आधार पर संगठित दीगर राष्ट्रों से शत्रुतापूर्ण व्यवहार करें। 'एक-धर्म-एक-राष्ट्र' के सिद्धांत की अनुसरण-प्रक्रिया में पाकिस्तानी शासकों ने जानबूझकर अपने देश में उग्र एवं कट्टर धार्मिक गिरोहों को पाला-पोसा है, समर्थन किया है और भारत के खिलाफ उपद्रव मचाने एवं साजिश रचने में उनका इस्तेमाल किया है। परिणामस्वरूप, इन गिरोहों की शाखा-प्रशाखा एवं प्रभाव पाकिस्तान की सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में व्यापक रूप से फैल गया है। अब तो ये पाकिस्तानी राष्ट्र को ही निगलने पर आमदा हो गये हैं।

(ख) छोटे राष्ट्र एवं बड़े राष्ट्र की स्वाभाविक बर्ताव-प्रणाली :

पड़ोसी राष्ट्रों से संबंध निभाने में भारत जिस एक अन्य अनूठी समस्या का सामना करता है उसे कहा जा सकता है : छोटे-राष्ट्र, बड़े-राष्ट्र की स्वाभाविक बर्ताव-प्रणाली (बिग नेबर, स्मॉल नेबर सिंड्रोम)। यह लक्षण भारत एवं उसके पड़ोसी राष्ट्रों, दोनों पक्षों के नीति-निर्धारण में प्रतिकूल प्रभाव डालता है। इसके कारण, अपने पड़ोसियों से समीप आने के लिए की गई भारत की सभी पहलकदमियों को ये राष्ट्र संदेह की निगाह से देखते हैं। इनमें वे केवल नकारात्मक पक्ष ढूंढते हैं और जानबूझकर उनको तूल देते हैं। अपने देश में प्राकृतिक कारणों से भी जो संकट आता है, उसे वे भारत की साजिश मानते हैं। मसलन, बांग्लादेश में नदी तटवर्ती इलाकों में जो भी आर्थिक या सामाजिक संकट घटता है, उसकी जिम्मेदारी भारत के मत्थे मढ़ी जाती है। कहा जाता है कि फरक्का बैरॉज के पास पानी निकालने से नदियों के पानी में खारापन के बढ़ने के कारण ऐसी स्थिति आई है। बांग्लादेश और भारत की सीमा के आर-पार जो तस्करी होती है, उसे बांग्लादेश के अखबार भारत द्वारा बांग्लादेश की संपत्ति को लूटने का इरादा समझते हैं। बांग्लादेश में बाढ़ के प्रकोप का कारण माना जाता है- भारत द्वारा दोनों देशों के बीच बहने वाली नदियों के ऊपरी भाग में जानबूझकर पानी छोड़ना। नेपाली अखबार अपने देश में मुद्रा-स्फीति को भारतीय मुद्रा-स्फीति का परिणाम समझते हैं अथवा भारत द्वारा अत्यावश्यक सामग्रियों की पूर्ति को रोक देने का परिणाम। दूसरी ओर, इस लक्षण का उलटा परिणाम यह है कि भारत छोटे पड़ोसी राष्ट्रों की परवाह नहीं करता एवं उनकी समस्याओं, अरमानों एवं अपेक्षाओं पर ध्यान नहीं देता। भारतीय विदेश नीति की प्राथमिकताओं में पाकिस्तान के अलावा अन्य पड़ोसी राष्ट्रों को अहमियत नहीं दी जाती। भारत सरकार के कुछ उच्च-स्तरीय नीति-निर्माताओं ने छोटे पड़ोसी राष्ट्रों के साथ भद्र तिरस्कार (बिनाइन नेग्लेक्ट) की नीति अपनाने की सलाह दी है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि ये पड़ोसी राष्ट्र ऐसी नीति को अपमानजनक मानेंगे। छोटे राष्ट्रों के साथ के संबंधों में ठहराव या अल्पकालीन विराम का भी परिणाम प्रतिकूल होता है।

पड़ोसी राष्ट्र इस तरह की हमारी नीति में उनके खिलाफ तरह-तरह की साजिश ढूंढने लगते हैं जब संबंध गतिहीन हो जाते हैं तो सालों के परिश्रम से निर्मित सहयोग के तंत्र बिखरने लगते हैं। इसका एक बहुत बुरा परिणाम होता है, इन देशों में भारत-विरोधी शक्तियों का आगे आना और भारत-समर्थक शक्तियों का पीछे हटना।

छोटे-राष्ट्र-बड़े-राष्ट्र के लक्षण के चलते छोटे पड़ोसी राष्ट्र हमारे साथ किसी बड़ी परियोजना में शामिल नहीं होना चाहते हैं। उनको यह भय होता है कि इसके चलते भारत के ऊपर उनकी निर्भरता में वृद्धि होगी और परिणामस्वरूप, उनकी सार्वभौमिकता पर खतरा मंडराने लगेगा। बांग्लादेश का भारत को प्राकृतिक गैस बेचने से झिझकना या अपने भू-भाग से होकर भारत की व्यापार सामग्रियों के लिए पारगमन की सुविधा प्रदान न करने का मुख्य कारण यही भय है। शायद यही कारण है कि विगत 6 दशकों से नेपाल ने दोनों देशों से होकर बहनेवाली नदियों के पानी को प्रयोग में लाने के लिए किसी वृहत् परियोजना के लिए अपनी स्वीकृति नहीं दी है। यही कारण है कि पाकिस्तान ने भारत से मशीनों आदि उपकरणों के सस्ते आयात पर आधारित प्रतियोगी औद्योगिक ढांचा खड़ा करने के बदले दक्षिण एशिया के बाहर के देशों से अधिक कीमत पर किए गए आयात के आधार पर औद्योगिक विकास किया है जो विश्व प्रतिस्पर्द्धा में खरा नहीं उतर सकता।

भारत के प्रति इन देशों के शासक वर्गों एवं आम जनता के कुछ तबकों में ऐसा भय और आशंका है कि वहां की सरकारें अपने को भारत-समर्थक घोषित करने से झिझकती हैं। 1999 के बांग्लादेश के आम चुनाव में बांग्लादेशी राष्ट्रीय पार्टी द्वारा अपने प्रतिद्वंद्वी अवामी लीग एवं उसके नेता शेख हसीना को भारत-समर्थक के रूप में दर्शाना शेख हसीना की हार का एक मुख्य कारण साबित हुआ। 1990 में नेपाल का प्रमुख राजनैतिक दल, नेपाली कांग्रेस लोकप्रियता की चोटी पर पहुंच गया था, क्योंकि इसने नेपाल में प्रजातांत्रिक प्रणाली के पुनर्स्थापन में प्रमुख रोल अदा किया था परंतु, इसके परवर्ती वर्षों में इसकी लोकप्रियता में काफी ह्रास हुआ। इसका एक कारण था इसकी भारत-समर्थक छवि। यही कारण है कि भारत-समर्थक प्रमुख राजनैतिक दल और व्यक्ति भारत की प्रशंसा अपने घर के ड्रॉइंग रूम में बैठकर करना पसंद करते हैं, आम सभा में या खुलेआम बयानों से नहीं। इसके चलते जब पड़ोसी देशों में हमारे अनुकूल सरकार सत्ता में आती है, उस समय भी हमारे आपस के संबंध वांछित या उच्चतम स्तर छू नहीं पाते।

हम जिस प्रकार से पड़ोसी राष्ट्रों के साथ अपना संबंध निभाते हैं, उसमें भी अनेक खामियां हैं। पड़ोसियों से बर्ताव करने में हम प्रायः पूरी सावधानी नहीं बरतते। उनके प्रतिनिधियों का हम यथोचित सत्कार नहीं करते। उनके साथ सौदा तय करने में हम अल्पकालीन लाभ-हानि पर ज्यादा जोर देते हैं। मध्यवर्ती एवं दीर्घकालीन संभावनाओं की उपेक्षा करते हैं। महाकाली परियोजना पर समझौता करने के दरमियान 1990 में हमने बांध के नीचे उपलब्ध पानी के प्रयोग के लिए नेपाल द्वारा की गई रॉयल्टी की मांग को ठुकरा दिया था, यह कहकर कि अंतरराष्ट्रीय कानून के तहत हमारी ऐसी कोई जवाबदेही नहीं है। ऐसा कर हम कानूनी धरातल पर तो सही खड़े रहे, लेकिन हम यह भूल गए कि यदि हम रॉयल्टी देकर इस परियोजना के लिए नेपाल की सहमति प्राप्त कर लेते तो भारत को पनबिजली, सिंचाई के पानी आदि के रूप में अरबों डॉलर का लाभ होता और वह लाभ सालों-सालों तक मिलता रहता। इसी प्रकार, हम भारतीय बाजार में बांग्लादेश के उनके निर्यातों के

निर्बाध और एकतरफा प्रवेश की मांग को सालों तक टुकराते रहे, इस भय से कि इससे भारत के कुछ घरेलू उद्योगों पर बुरा असर पड़ेगा। पर हम यह भूल गए कि बांग्लादेश के निर्यात के बढ़ने से उसकी भारत से आयात करने की क्षमता में वृद्धि होगी, क्योंकि बांग्लादेश के बाजार में भारत अन्य देशों से प्रतिस्पर्द्धा में अग्रणी है।

(ग) पड़ोसियों को भारत से खतरे का डर :

एक उभरती विश्व-शक्ति के रूप में, भारत के लिए जरूरी है कि यह अपनी सामरिक क्षमता को बढ़ाए जिससे दक्षिण एशिया के बाहर के देशों से इसकी सुरक्षा पर आंच न आए और यह अपने विश्वव्यापी रणनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति कर पाए। दुर्भाग्यवश, भारत के इस प्रकार के कार्य या पहल से पड़ोसी राष्ट्र अपने ऊपर ही खतरे का एहसास करने लगते हैं। जब हम बड़े पैमाने पर अस्त्र-शस्त्र खरीदते हैं या परमाणु अस्त्रों का परीक्षण करते हैं या अपनी नौसेना का विस्तार करते हैं तो पड़ोसी राष्ट्र इसे अपने ही ऊपर खतरा समझते हैं। इसके चलते वे स्वयं अस्त्र-शस्त्र एकत्र करने में जुट जाते हैं एवं बाहरी शक्तियों के साथ सांठ-गांठ करने लगते हैं। भारत के प्रति इस प्रकार की प्रतिक्रिया में पाकिस्तान अत्यंत व्यस्त रहा है। दोनों देशों के अत्यधिक शस्त्रीकरण का यह एक मुख्य कारण बन गया है। और इसके चलते ही दक्षिण एशिया में परमाणु अस्त्रों की समस्या खड़ी हुई है।

पड़ोसी राष्ट्र यह समझने की चेष्टा नहीं करते कि दक्षिण एशिया के इतर क्षेत्रों या देशों में भारत को अपने रणनीतिक हितों की रक्षा करनी है और इन देशों से इसकी सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। अपने आर्थिक विकास-दर को उच्च स्तर पर बनाए रखने के लिए हमें बाहर से कच्चे माल एवं ऊर्जा का आयात करना है; अपने व्यापार के लिए हमें समुद्री मार्ग खुले रखने हैं, हमें अपने समुद्र तट की रक्षा करनी है, हमें चीन से आने वाले सुरक्षा-संकट का मुकाबला करना है, हमें द्विपक्षीय, क्षेत्रीय एवं बहुपक्षीय संधि-वार्ताओं में अपनी सौदा करने की ताकत को बढ़ाना है। हमारे पड़ोसियों को समझना चाहिए कि भारत की शक्ति दक्षिण एशिया तक सीमित नहीं रह सकती और अपनी वैश्विक रणनीति के कार्यान्वयन के लिए हम जो कदम उठाते हैं उससे उनकी सुरक्षा को खतरे में डालने का हमारा कोई इरादा नहीं है।

(घ) आंतरिक स्थिति का महत्व :

हमारे देश के अंदर क्या हो रहा है, इसका भी पड़ोसी राष्ट्रों की हमारे प्रति धारणा और रुख पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह बात दक्षिण एशिया के बाहर के देशों के लिए भी सही है पर हमारी आंतरिक स्थिति का पड़ोसी राष्ट्रों पर ज्यादा असर होता है। भारत की आजादी के ठीक बाद के कुछ वर्षों में भारत की सरकार स्थिर और सुदृढ़ थी, इसका नेतृत्व प्रभावशाली था और यह मजबूत प्रजातांत्रिक संस्थाओं के निर्माण में सफल हुआ था। भारत ने विकास की अपनी एक अलग रणनीति बनाई थी जिसका अनेक अन्य विकासशील देशों ने अनुसरण किया था। इसकी अंतरराष्ट्रीय महत्ता इसकी आर्थिक एवं सामरिक शक्ति से कहीं ऊंची थी। इन तत्त्वों ने हमारे प्रति पड़ोसी राष्ट्रों के रुख को बहुत प्रभावित किया था। हम उनकी ईर्ष्या और प्रशंसा दोनों के पात्र थे। इसकी अभिव्यक्ति कभी खुलेआम होती थी और कभी चुपके-चुपके निजी वार्तालाप में।

1960 के दशक के मध्यकाल से, जब पाकिस्तान से हमारी लड़ाई हुई, यह परिस्थिति बहुत हद तक बदल गई। अगले दो दशकों में हमारी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का हास हुआ और

हमारी प्रजातांत्रिक संस्थाओं का अनवरत पतन। इस अवधि में भारत सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति, शासन की गुणवत्ता एवं नैतिक गरिमा के लिहाज से दक्षिण एशिया एवं विश्व के अन्य विकासशील देशों की सामान्य न्यून श्रेणी में आ गया। केवल पड़ोसी राष्ट्रों ने ही नहीं, अपितु दुनिया ने हमें एक ऐसे लड़खड़ाते देश के रूप में देखना शुरू कर दिया जो आजादी के बाद जगाई गई अपेक्षाओं पर खरा उतर नहीं पाया और जो अपने संविधान के सामाजिक अनुबंध का भी पालन नहीं कर पाया। 1975 में आपातकालीन स्थिति की घोषणा के बाद ऐसा लगा कि भारतीय प्रजातंत्र ही तिरोहित होने वाला है। इस बीच अनेक अन्य विकासशील देश हमसे आगे निकल गए। पड़ोसियों में श्रीलंका सामाजिक एवं आर्थिक उपलब्धि के मापदंड पर हमसे कई पायदान ऊपर पहुंच गया। हमारे कई पड़ोसी देशों में भी प्रजातंत्र पुनर्जीवित हुआ, यद्यपि यह अब तक दोषपूर्ण और चार दिन की चांदनी की तरह दिखाई पड़ता है। हमारा प्रजातंत्र अभी भी पड़ोस में सर्वश्रेष्ठ है, पर हम जानते हैं कि यह कितना दूषित हो गया है।

1990 के दशक के प्रारंभ से भारत में केंद्रीय सरकारें कमजोर एवं अस्थिर रही हैं। सरकारी नेताओं ने अपने शासनकाल का अधिक समय अपने राजनीतिक जीवन को बचाने और बढ़ाने में व्यय किया है। पड़ोसी राष्ट्रों के साथ के द्विपक्षिक मसलों को हल करने एवं उनके संबंधों में दीर्घकालीन सुधार लाने के लिए न तो उनके पास समय था, न साहस और न दूरदर्शिता। एकमात्र अपवाद था 1996 के दिसम्बर में बांग्लादेश के साथ गंगा के पानी के बंटवारे की संधि पर हस्ताक्षर होना। यह तीन कारणों के अपूर्व मेल से संभव हो पाया। पहला, बांग्लादेश में शेख हसीना के नेतृत्व में अवामी लीग सरकार का सत्ता में आना; तत्कालीन विदेश मंत्री इंद्र कुमार गुजराल की चेष्टा, प्रतिबद्धता एवं प्रबुद्ध विचारधारा और ज्योति बसु के नेतृत्व में तत्कालीन पश्चिम बंगाल की सरकार का सक्रिय सहयोग।

1992 में बाबरी मस्जिद के ध्वस्त होने और तत्पश्चात सांप्रदायिक शक्तियों के उत्थान के बाद, एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में भारत की छवि बहुत धूमिल हो गई है। तबसे पड़ोसी राष्ट्रों के साथ के कई मसलों को सांप्रदायिक चश्मे से देखा जा रहा है। उदाहरणस्वरूप, भारतीय जनता पार्टी का यह विचार कि बांग्लादेश से गैरकानूनी ढंग से भारत में आने वाले हिंदू, शरणार्थी हैं और मुसलमान गैरकानूनी आप्रवासी। पाकिस्तान के साथ वार्ता शुरू करने या उनके साथ के द्विपक्षीय समस्याओं के समाधान के बारे में भी इस राजनीतिक दल ने कट्टर और अनुचित रवैया अपनाया है। धर्मनिरपेक्षता, हमारी विदेश नीति का, खासकर पड़ोसियों के प्रति, एक अमूल्य रत्न (यूएसपी) है। इसे खोना एक बहुत बड़ी क्षति होगी।

(ड) पड़ोसी देशों से अन्य समस्याएं :

पहला, भारत से खतरे के एहसास के कारण पड़ोसी राष्ट्र, भारत के साथ के द्विपक्षीय मसलों को बहुपक्षीय बनाने की चेष्टा करते हैं। गंगा के पानी के बंटवारे के लिए की गई संधि-वार्ता में बांग्लादेश ने हमेशा नेपाल को शामिल करना चाहा, बावजूद इसके कि इसके चलते समस्या के समाधान में और भी विलंब हो जाता और यह अत्यंत कठिन समस्या और भी जटिल हो जाती।

दूसरा, हमारे पड़ोसी राष्ट्र हमारे साथ के द्विपक्षीय मामलों में एवं दक्षिण एशियाई पारस्परिक सहयोग प्रक्रिया में बाहर की शक्तियों को लाने में उतावले रहते हैं। ये शक्तियां हैं- प्रमुख

विकासशील देश, जैसे अमेरिका, जापान, जर्मनी एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं, विशेषकर विश्व बैंक और एशियन विकास बैंक। ये इन्हें या तो मध्यस्थ या सलाहकार के रूप में लाना चाहते हैं।

भारत ने अब तक पड़ोसी देशों के इन प्रयासों को सफल होने नहीं दिया है, क्योंकि इन देशों या संस्थाओं के मध्यस्थ या सलाहकार के रोल को निष्पक्ष रूप में अदा करने की बहुत कम संभावना है। बाहर की बड़ी शक्तियों का दक्षिण एशिया में अपना-अपना स्वार्थ निहित है। और अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं अमूमन बड़ी शक्तियों के इशारे से काम करती हैं। इसके अलावा, इन बड़े देशों एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के परामर्शों के भारत के हितों के खिलाफ होने की अधिक संभावना है। इसका कारण है छोटे एवं कमजोर राष्ट्रों से सहज सहानुभूति। इसके अतिरिक्त भारत की स्वायत्त विदेश नीति के चलते बड़े राष्ट्र इससे खार खाए रहते हैं। फिर भी, हमें समझना चाहिए कि पड़ोसी राष्ट्र हमारा प्रस्ताव, सुझाव या तर्क आसानी से नहीं मान लेंगे। तीसरे पक्ष से इनके पुष्टिकरण की इनकी सहज प्रवृत्ति होगी। इसलिए विशेष परिस्थितियों में बाहर की शक्तियों या संस्थाओं से सलाह लेने के उनके सुझाव को मान लेना चाहिए पर हम उनकी मध्यस्थता स्वीकार नहीं कर सकते, अगर हम इसके लिए कानूनन बाध्य न हों।

तीसरा, हमारे पड़ोसी देशों में हमारे खिलाफ गुट बनाने की प्रवृत्ति है, ताकि हमसे वे ऐसे लाभ उठा सकें जो द्विपक्षीय आधार पर संभव नहीं है। बांग्लादेश के राष्ट्रपति जियाउर रहमान ने साल 1980 में दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संस्था (सार्क) बनाने के लिए जो पहल की थी, उसके पीछे बहुत हद तक यही मकसद था। हमारे पड़ोसी राष्ट्रों का यह विश्वास है कि 'सार्क' मंच द्वारा वे भारत पर संयुक्त दबाव डालकर, बिना मूल्य चुकाए, रियायत हासिल कर सकते हैं। इन्होंने 'सार्क' संस्था का इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई बार इस्तेमाल किया है। भारतीय प्रतिनिधियों की जागरूकता के कारण इन्हें इस प्रयास में बहुत सीमित सफलता मिल सकी है, यद्यपि भारत ने इनके इस चाल की वजह से कई बार 'सार्क' मंच में संकट की स्थिति का सामना किया है।

चौथा और आखिरी, हमारे पड़ोसी देशों ने सरकारी प्रचार मशीनरी एवं मीडिया के द्वारा भारत को एक प्रभुता-आकांक्षी (हेगीमोन) देश के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। इसमें इनके शैक्षिक एवं बौद्धिक समुदाय के एक बड़े तबके ने साथ दिया है। इस कार्य में ये पाश्चात्य देशों एवं चीन के विद्वानों एवं चिंतक मंडलियों से प्रेरणा लेते रहे हैं। चीन ने तो सरकारी स्तर पर भी कई बार भारत को एक प्रभुता-आकांक्षी राष्ट्र की संज्ञा दी है लेकिन, भारत का इस रूप में चित्रण तथ्य पर आधारित नहीं है। यह मिथ्या, भ्रामक एवं अन्य स्वार्थों की सिद्धि के हेतु है।

पड़ोसी एवं पाश्चात्य देशों के पत्रकारों एवं विद्वानों के लेखों में इस अभियोग की पुष्टि के लिए जो दृष्टांत दिए गए हैं, उनमें शामिल हैं : 1989-90 में नेपाल के खिलाफ नाकेबंदी; 1987-90 में श्रीलंका में भारतीय शांति सेना को तैनात करना; और 1988 में मालदीव में नौसेना भेजकर लुटेरों को भगाना।

इन तीनों परिस्थितियों में भारत की कार्यवाहियां सही, आवश्यक और अंतरराष्ट्रीय कानून के मुताबिक थीं। भारत ने 1989-90 में भारत-नेपाल सीमा पर कोई नाकेबंदी नहीं लगाई थी। उस समय भारत-नेपाल व्यापार यथावत चलता रहा। भारत से नेपाल को भेजी जानेवाली अत्यावश्यक सामग्रियों की पूर्ति में कोई कोताही नहीं की गई। भारत ने नेपाल की कुछ कार्यवाहियों पर नाराजगी दिखाने

के लिए कुछ सीमा-चौकियों को बंद कर दिया था, जबकि अधिकांश बड़ी-बड़ी और चालू चौकियां खुली रहीं। श्रीलंका में भारतीय शांति सेना श्रीलंका के तत्कालीन राष्ट्रपति के अनुरोध पर एवं एक द्विपक्षीय संधि के तहत भेजी गई थी। यह जोखिम भरा कदम भारत ने श्रीलंका की एकता एवं अक्षुण्णता को बनाए रखने के लिए उठाया था। मालदीव में भी भारतीय नौसेना के जहाज मालदीव के राष्ट्रपति के अनुरोध पर भेजे गए थे। यह काम समुद्री लुटेरों को भगाने के लिए किया गया था, किसी लोकप्रिय जन-आंदोलन को कुचलने के लिए नहीं।

नीति-निर्देश :

(क) मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के प्रति संवेदनशीलता :

अब तक के विश्लेषण से जाहिर है कि पड़ोसी देशों से संबंध निभाने में हम विशेष प्रकार की समस्याओं का सामना करते हैं। इसके समाधान के उपाय भी विशिष्ट और अलग प्रकार के होने चाहिए। पड़ोसियों के साथ संबंध बढ़ाने में हमें विशेष सावधानी बरतनी चाहिए और कुछ मूलभूत चीजों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पहला यह कि पड़ोसियों से संपर्क में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का वस्तुगत तत्त्वों से ज्यादा महत्व है। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम पड़ोसियों की धारणाओं एवं भावनाओं के प्रति अत्यंत संवेदनशील रहें। हमें उनसे हर तरह से समानता से बर्ताव करना चाहिए और उनको सम्मान देना चाहिए। उनके प्रस्तावों पर विचार करने के लिए और उनकी प्रतिक्रियाओं को समझने के लिए हमें हमेशा अपने को उनके स्थान पर रखकर सोचना चाहिए। हमें कभी भी उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए और न तो उन्हें तिरस्कृत अनुभव करने का मौका देना चाहिए। स्पष्टतः, उनके साथ के बर्ताव में 'भद्र तिरस्कार' का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि हमारा तिरस्कार कितना भी भद्र क्यों न हो, उसे वे अपना अपमान समझेंगे।

हिंदुस्तान से रूबरू होने में, पड़ोसी देश अपनी राष्ट्रीय-पहचान एवं सार्वभौमिकता के प्रति विशेष सजग हो जाते हैं। जब कभी उन्हें मौका मिलता है, वे अपने को अलग दिखाने का प्रयास करते हैं एवं अपनी सार्वभौमिकता की दुहाई देते हैं। हमें इनकी इन भावनाओं के प्रदर्शन पर रोष जाहिर नहीं करना चाहिए। यह समझना चाहिए कि यह स्वाभाविक है और इसके भीतर भारत के प्रति कोई शत्रुता का भाव छिपा नहीं है। हमें कभी भी कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए या कोई ऐसी बात नहीं बोलनी चाहिए जिससे इनकी इन भावनाओं पर ठेस पहुंचे। हमें अपने पड़ोसियों के साथ की सामान्यताओं पर उनके समक्ष न तो अधिक जोर देना चाहिए और न बढ़ा-चढ़ाकर कहना चाहिए।

निस्संदेह, उनकी सार्वभौमिकता का सम्मान करने का यह मतलब नहीं कि उनके साथ संबंध निभाने में हम अपने हितों की रक्षा न करें। पर हमें अपने हितों की परिभाषा ठीक और प्रबुद्ध रूप में करना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमने कुछ कार्य अल्पकालीन आवेश में आकर या घरेलू राजनीतिक लाभ उठाने के लिए किए हैं, जिससे हमारे पड़ोसी क्षुब्ध हुए हैं।

मसलन, 1987 में श्रीलंका की तमिल आबादी वाले इलाकों में हमने हवाई जहाज से खाद्यान्न गिराने का जो काम किया, उसे टाला जा सकता था। श्रीलंका की सरकार एवं वहां की जनता ने इसे अपने देश की सार्वभौमिकता पर प्रत्यक्ष प्रहार समझा। यह घटना दशकों से श्रीलंकाइयों में भारत के प्रति रोष का कारण बनी हुई है।

(ख) संलाप में विराम न हो :

पड़ोसी राष्ट्रों से हमारा द्विपक्षीय संलाप हर स्तर पर नियमित रूप से चलते रहना चाहिए। किसी भी हालत में पारस्परिक संलाप के रुकने या संलापों के बीच बड़े अंतराल के लिए हमें जिम्मेवार नहीं होना चाहिए। दो-दो बार सार्क शिखर सम्मेलन भारत के आग्रह पर स्थगित हुआ है जिससे सार्क के अन्य सदस्य राष्ट्रों ने बड़ी नाराजगी और क्षोभ प्रकट किया है। द्विपक्षीय स्तर पर भारत-पाकिस्तान संयुक्त संलाप (इंडिया-पाकिस्तान कम्पोजिट डायलॉग) भारत की जिद के कारण निलंबित रहा है। 9 नवम्बर, 2008 में पाकिस्तानी खुफिया एजेंसी की सहायता से, वहां के आतंकियों द्वारा मुंबई में हुई हिंसा की वारदात के बाद यह संलाप प्रायः निष्क्रिय रहा है। वारदात के कारण क्षुब्ध लोकमत के तुष्टीकरण के लिए संलाप को कुछ दिन तक स्थगित रखने की राजनीतिक बाध्यता थी लेकिन, उनको तब से इतने सालों तक रोके रखना दोनों देशों में से किसी के हित में नहीं है। निष्क्रिय रहने के लाख बहाने होते हैं। किंतु, साहसिक और दूरदर्शी नेता हमेशा सक्रिय प्रयास का अवसर ढूंढते हैं।

पूर्व प्रधानमंत्री, नरसिंह राव ने अपने पूरे पांच साल के दरमियान बांग्लादेश की सरकारी यात्रा नहीं की। इसका उन्होंने निजी तौर पर जो कारण बताया वह कुछ ऐसा था : यदि वे जाएंगे तो बांग्लादेशी फरक्का के पास गंगा नदी के पानी के बंटवारे का मामला उठाएंगे। चूंकि इस समस्या का उनके पास कोई समाधान नहीं है, इसलिए वे यात्रा के दौरान परेशानी में पड़ जाएंगे। इसलिए, यात्रा को स्थगित रखना ही वांछित होगा। नरसिंह राव का यह तर्क बड़ा ही कमजोर और लचर था। अपने पड़ोसियों के साथ तो हमेशा ही कठिन और कभी-कभी असाध्य प्रतीत होने वाली समस्याओं पर भी संघर्ष करना पड़ता है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम उनके साथ शिखर-स्तर पर कोई संपर्क ही न रखें। अमूमन, जिन मसलों का निम्न स्तर की बातचीत से हल नहीं होता, उनका हल ढूंढने के लिए उन्हें शिखर-स्तर पर उठाया जाता है। अगर हल नहीं भी हो तो शिखर वार्ता से अविश्वास और गलतफहमी दूर होती है और भविष्य में समस्या समाधान का मार्ग प्रशस्त होता है। शिखर-स्तर वार्ता से इनकार करना एक धृष्ट आचरण माना जाता है।

पड़ोसी देशों के साथ के संबंध अनिश्चित काल के लिए निष्प्राण अवस्था में नहीं रखे जा सकते। अगर इनमें बीच-बीच में ऊर्जा और नए जीवन का संचार नहीं किया जाए तो इनमें द्रुत गति से ह्रास होने की संभावना होती है। दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में पड़ोसियों के साथ के संबंधों में लंबी गतिहीनता एवं उनके साथ के संलाप में बार-बार विराम भारत के हित में नहीं हैं। विवादास्पद मसलों पर उच्च स्तर पर विचार-विमर्श नहीं चलते रहने से पड़ोसी राष्ट्र हमारे इरादों पर संदेह करने लगते हैं और इनके बारे में तरह-तरह की कल्पना करना शुरू कर देते हैं। उन्हें भय होने लगता है कि भारत कहीं उनके खिलाफ साजिश तो नहीं कर रहा है। इस डर से कभी-कभी वे ऐसा कदम उठाते हैं जो दोनों देशों के हित में नहीं है और जिससे विवादास्पद मामले और भी जटिल हो जाते हैं। पड़ोसियों से तनाव बने रहने एवं उनके साथ सक्रिय संपर्क की अनुपस्थिति में उनके लोग हमसे विमुख हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में संलाप के पुनरारंभ के बाद पूर्व स्थिति में पहुंचने में बहुत समय लग सकता है।

भारत को पड़ोसियों के साथ के संबंधों को हमेशा दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसमें

गतिरोध आने से या इनके अचानक बिगड़ जाने से हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। पड़ोसियों के साथ के संबंधों पर बीच-बीच में सदमा पहुंचना और उनका प्रतिकूल होना अवश्यभावी है। आवश्यकता है वर्तमान के तुमुल कोलाहल में मूलभूत उद्देश्यों को न भूलना। और ये उद्देश्य हैं- सतत विश्वास पुनर्स्थापित करना और इसे बनाए रखना, संदेह दूर करना और सहयोग के नए आयाम ढूंढना।

(ग) द्विपक्षीय समस्याओं के समाधान को स्थगित नहीं रखना चाहिए :

भारत की विदेश-नीति के कर्णधारों में जो एक दुखद प्रवृत्ति पाई जाती है, वह है पड़ोसियों के साथ द्विपक्षीय समस्याओं का समाधान ढूंढने के बदले उन्हें धीमी आंच पर उबलते छोड़ देना। उपमहादेश का वृहत्तम राष्ट्र होने के कारण अल्पकाल में यथास्थिति भारत के पक्ष में जाती है। इसके चलते भारत के नीति-निर्माता समस्याओं के शीघ्रतम समाधान के लिए कोई उत्साह नहीं दिखाते। और जब ये समस्याएं भीषण रूप धारण कर लेती हैं तो उन पर कोई पैबंद लगा देने या कोई अल्पकालिक समाधान ढूंढने की चेष्टा करते हैं या किसी प्रकार इनका प्रबंधन करते हैं। अनुभव यह बताता है कि यदि किसी द्विपक्षीय समस्या के समाधान को लंबे अरसे तक स्थगित रखा जाता है तो कालांतर में वह पहले से अधिक पेचीदा हो जाता है। इसके अलावा, द्विपक्षीय समस्याओं के बने रहने से दोनों राष्ट्रों को अमूमन भारी कीमत चुकानी पड़ती है। जटिल समस्याओं को बनाए रखने का आत्मसंतोष, नेतृत्व की अदूरदर्शिता और जोखिम उठाने में साहस और सूझ के अभाव का परिचायक है। यह आत्मसंतोष अवांछित है और आगे चलकर घोर विवाद का कारण बन सकता है। इसलिए हमारे लिए यह लाजिम है कि पड़ोसी देश के साथ द्विपक्षीय समस्याओं के समाधान का मौका सतत तलाशते रहें और जब कोई मौका सामने आए तो उसको किसी भी हालत में न गंवाएं। ऐसा हमने फरक्का के पास गंगा नदी के पानी के बंटवारे के मामले को सुलझाने के लिए किया। इसके चलते भारत और बांग्लादेश के बीच चले आ रहे तनाव के एक मुख्य कारण को रास्ते से हटाने में सफलता मिली।

पड़ोसी राष्ट्रों की प्रवृत्ति रही है, द्विपक्षीय समस्याओं के समाधान की जवाबदेही भारत पर डालना। निस्संदेह बड़ा पड़ोसी होने की हैसियत से समस्याओं के समाधान के लिए भारत को पहल करनी चाहिए और इसके लिए होने वाली संधि-वार्ता में एक हद तक उदारता भी दिखानी चाहिए। किंतु, यह व्यवहार पूर्णतया एकतरफा नहीं हो सकता है। अधिकांश मामलों में, पड़ोसियों द्वारा भारत की बाध्यताओं एवं अनिवार्यताओं की उपेक्षा करने से और अपने रुख में आवश्यक परिवर्तन नहीं करने से समस्या का कभी भी समाधान नहीं हो सकता।

(घ) दीर्घकालीन लाभ के लिए अल्पकालीन त्याग :

पड़ोसियों से संबंध-निर्वाह में भारत को दीर्घकालीन लाभ के लिए अल्प या मध्यकालीन त्याग करना चाहिए। पड़ोसी राष्ट्रों में समृद्धि और स्थिरता बहाल करने के लिए भारत को सजग एवं योजनाबद्ध रूप में काम करना चाहिए, और इसके लिए आवश्यक पूंजी निवेश करना चाहिए। इस संबंध में स्वतंत्र विचारकों और विशेषज्ञों ने बीच-बीच में बहुमूल्य सुझाव दिए हैं। उनमें से एक रहा है भारतीय बाजार में न्यूनतम विकसित एवं छोटे पड़ोसी देशों के निर्यात को एकतरफा शुल्क एवं कोटा-मुक्त कर देना। भूटान और नेपाल को यह सुविधा पहले से ही प्राप्त है। श्रीलंका के साथ भी

हम साल 2000 में मुक्त व्यापार संधि कर चुके हैं। अतः जब हम एकतरफा छूट की बात करते हैं तो केवल बांग्लादेश के निर्यात की बात करते हैं। पाकिस्तान तो हमें एमएफएन सुविधा भी नहीं दे रहा है। इसलिए भारतीय बाजार में उसे एकतरफा मुक्त व्यापार की सुविधा देने का प्रश्न ही नहीं उठता। मगर यदि पाकिस्तान भारत को एमएफएन सुविधा देता है तो हम उसके साथ भी मुक्त व्यापार संधि करने के लिए वार्तालाप कर सकते हैं। और उस प्रक्रिया में हम उसे कुछ समय के लिए एकतरफा सुविधा भी दे सकते हैं। इसकी आर्थिक न्यायसंगतता है और आने वाले सालों में दोनों देशों को इससे दूरगामी आर्थिक लाभ मिल सकता है। साथ-ही-साथ इसका सकारात्मक राजनीतिक परिणाम भी हो सकता है।

एक दूसरा सुझाव है, सार्क देशों का एक वृहत विकास-कोष बनाना। इसके लिए कम-से-कम 5 बिलियन डॉलर का पूंजी-निवेश आवश्यक है। इस कोष से सार्क के न्यूनतम विकसित राष्ट्रों, जैसे बांग्लादेश, नेपाल और भूटान की मानव-सम्पदा एवं भौतिक संरचना के विकास के लिए पूंजी निवेश किया जाएगा। अगर सार्क के अंतर्गत ऐसे कोष का निर्माण नहीं भी हो, तो भारत द्विपक्षीय स्तर पर ऐसे कोष की स्थापना कर सकता है। नेपाल और बांग्लादेश के लिए ऐसी धनराशि उपलब्ध कराना भारत के लिए बहुत ही फायदेमंद होगा।

उदाहरणस्वरूप, अगर बांग्लादेश ने भारत को अपने भू-भाग से होकर पारगमन की सुविधा दी तो भारत को इससे अपार लाभ होगा। सबसे बड़ा लाभ होगा देश के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों को भारतीय मूलधारा में शामिल करने का अवसर मिलना। परंतु यह लाभ हम तब तक नहीं उठा सकते जब तक बांग्लादेश की भौतिक संरचना को चार-पांच गुना उन्नत नहीं किया जाए और इसके लिए बड़े पैमाने पर पूंजी निवेश करना होगा- कम-से-कम 10 बिलियन डॉलर। यह कोई बहुत बड़ी रकम नहीं है। अपने देश में भौतिक संरचना के विकास के लिए सरकार ने अपने पांच वर्षों में खर्च के लिए 150 बिलियन डॉलर का अनुमान लगाया है। क्या हम इसमें से बांग्लादेश की संरचना में विकास के लिए 10 बिलियन डॉलर खर्च नहीं कर सकते, जबकि पारगमन की सुविधा प्राप्त करने के बाद उनकी संरचना हमारी संरचना के तुल्य हो जाएगी।

अगर सार्क के मुल्कों के बीच का व्यापार मुक्त हुआ तो न्यूनतम विकसित सदस्य निर्यात-पूर्ति के अभाव में इससे समान लाभ नहीं उठा पाएंगे। वे ऐसा तभी कर पाएंगे जब उनके निर्यात-उत्पादन की क्षमता में वृद्धि हो। इसके लिए पूंजी लगाने की आवश्यकता है।

इसी वजह से 1996 में सार्क के एक प्रख्यात व्यक्ति समूह ने न्यूनतम विकसित राष्ट्रों के लिए एक विकास कोष के निर्माण की सिफारिश की थी। यदि यह कोष बन पाता, तो इसमें 70-75 प्रतिशत लागत भारत को करना पड़ता, क्योंकि ऐसे कोषों में योगदान आर्थिक क्षमता के आधार पर होता है। दुर्भाग्यवश न तो सार्क देशों के बीच सही मायने में मुक्त बाजार बन पाया है और न ही ऐसे कोष का निर्माण हो सका है।

(ड) गैर-पारस्परिकता (नन-रेसिप्रॉसिटी) का महत्व :

कम-से-कम अल्प और मध्यकाल में, भारत को अपने पड़ोसियों से सौदा करने या संबंध निभाने में पारस्परिकता की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह पूर्व विदेश मंत्री इंद्र कुमार गुजराल के नाम से प्रख्यात गुजराल-सिद्धांत का महत्वपूर्ण तत्त्व था। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी, जिसमें विश्व व्यापार संस्था

(डब्ल्यूटीओ) भी शामिल है, न्यूनतम विकसित देशों के निर्यात के लिए शुल्क एवं कोटा-मुक्त प्रवेश प्रदान करना स्वीकार कर लिया गया है। हम यह जिक्र कर चुके हैं कि किस प्रकार बांग्लादेश की निर्यात-क्षमता की वृद्धि से इस देश को भेजे जाने वाले हमारे निर्यात में वृद्धि होगी। बांग्लादेश के साथ एकतरफा मुक्त व्यापार के बारे में बीस साल से अधिक समय से चर्चा हो रही थी। अंततः, साल 2011 में भारत ने बांग्लादेश से आने वाले कपड़ों को प्रतिबंधित तालिका (निगेटिव लिस्ट) से हटाकर एक प्रकार की एकतरफा मुक्त बाजार की सुविधा प्रदान कर दी।

अपने पड़ोसियों के साथ के सांस्कृतिक संबंधों में भी भारत को गैर-पारस्परिकता की नीति अपनानी चाहिए। राष्ट्रीय-पहचान को बनाने और बचाने एवं अपनी सांस्कृतिक सामग्रियों के आयात से संरक्षण के लिए हमारे पड़ोसी राष्ट्र भारत के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान को या तो बंद या न्यूनतम स्तर पर रखना पसंद करते हैं। खासकर, वह नहीं चाहते कि भारत से इन देशों में फिल्म, रेकार्ड, वीडियो आदि का आयात हो या वहां से सांस्कृतिक जत्थे उनके देशों में आए। इसकी प्रतिक्रिया में कई बार हमारे विदेश-नीति संचालकों ने उन देशों की सांस्कृतिक सामग्रियों के आयात और उनके संगीत एवं नाट्य दलों के भारत में आने पर प्रतिबंध लगा दिया है। यह अदूरदर्शिता और हानिकारक नीति है। इससे उन देशों के सांस्कृतिक समाज में जो धर्मनिरपेक्ष और प्रजातांत्रिक कलाकार या उनके समूह हैं उनकी स्थिति कमजोर और दयनीय हो जाती है। और उन देशों के सांस्कृतिक क्षेत्र में धार्मिक कट्टरपंथियों, अंधविश्वासियों एवं भ्रमजाल फैलाने वालों का वर्चस्व बढ़ जाता है। इससे इन देशों का भारत के साथ सांस्कृतिक अलगाव बढ़ जाता है जिसके राजनीतिक दुष्परिणाम भी होते हैं। इन देशों के सांस्कृतिक जगत में अनेक धर्मनिरपेक्ष, मानवतावादी और प्रगतिशील हस्तियां और दल हैं जो अपनी प्रतिभा के विकास और प्रेरणा के लिए भारत की ओर देखते हैं। इसलिए, पड़ोसी राष्ट्रों की नीति को दरकिनार कर, ऐसे लोगों का भारत में आगमन और कला-प्रदर्शन निर्बाध गति से चलते रहना चाहिए।

(च) जन-साधारण के बीच संपर्क :

हरेक परिस्थिति में भारत को अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ जन-साधारण स्तर पर संपर्क बनाए रखना चाहिए। द्विपक्षीय राजनीतिक संबंधों के चढ़ाव-उतार का इन संपर्कों पर असर नहीं पड़ना चाहिए। भारत तुलनात्मक दृष्टि से एक खुला समाज है। इसलिए हमें पड़ोसी राष्ट्रों से आने वाले लोगों एवं विचारों से डरने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि जन-साधारण के स्तर पर संपर्क बनाए रखने से हमें इन देशों के समाज को एक अनेकवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं प्रगतिशील दिशा की ओर प्रेरित करने का मौका मिलता रहेगा।

भारत और पड़ोसी देशों के बीच, लोगों और विचारों के और कभी-कभी सामग्रियों एवं सेवाओं की भी, दोतरफा अबाध प्रवाह में एक बहुत बड़ी बाधा रही है- हमारी और पड़ोसी देशों, दोनों की सुरक्षा-चिंता। प्रतिकूल द्विपक्षीय संबंधों के संदर्भ में यह कुछ हद तक स्वाभाविक है। पर क्या हम अपने पड़ोसी राष्ट्रों से आने वाले सुरक्षा खतरों को बढ़ा-चढ़ाकर तो नहीं देख या सोच रहे हैं? ये खतरे ऐसे नहीं हैं कि इनके नाम पर लोगों और विचारों के आदान-प्रदान एवं आवागमन पर इतने कठोर और व्यापक प्रतिबंधों को लगाया जाए। इससे तो केवल जनसाधारण के बीच की खाइयां पटने के बदले और भी चौड़ी होती जा रही हैं।

(छ) मूल हितों की सिद्धि :

अपने पड़ोसियों से पारस्परिकता की अपेक्षा किए बिना उनको एकतरफा रियायत देना एक सीमा तक ही संभव है। पड़ोसियों से संबंध-निर्वाह में भारत को भी अपने हितों की रक्षा करनी है। प्रजातांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकार के लिए यह जरूरी है कि वह द्विपाक्षिक संबंधों के बारे में जनता की अदालत में हिसाब दे और उन लॉबियों को संतुष्ट रखें जिनको पड़ोसी राष्ट्रों को रियायत देने से नुकसान हो सकता है। भारत दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में रियायतों की पारस्परिकता से समझौता कर सकता है, पर यह हितों की पारस्परिकता त्याग नहीं सकता। इसके ऊपर ध्यान दिये बिना कोई भी द्विपाक्षिक संबंध टिकाऊ नहीं हो सकता। मसलन, भारत अपने पड़ोसियों, खासकर जो न्यूनतम विकसित हैं, को एकतरफा मुक्त बाजार की सुविधा दे सकता है; परंतु इन पड़ोसी देशों को भी स्वीकार करना होगा कि वे शीघ्र ही, उदाहरणस्वरूप 5 साल बाद, पारस्परिक व्यापार उदारीकरण की प्रक्रिया में शामिल होंगे और अंततोगत्वा भारत के लिए भी अपना बाजार मुक्त कर देंगे, जिससे कि मुक्त बाजार संधि एक समय-सीमा के अंदर लागू हो सके। उसी प्रकार, भारत बांग्लादेश के नागरिकों के अवैध प्रवसन को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता और न बांग्लादेशी राजनयिकों एवं अन्य संभ्रांत वर्ग के लोगों के इस तर्क को, कि भारत में प्रवसन बांग्लादेशियों का मौलिक अधिकार है। भारत यह भी स्वीकार नहीं कर सकता कि पड़ोसी राष्ट्र किसी को अपने सीमावर्ती क्षेत्रों का प्रयोग भारत के खिलाफ विनाशकारी कार्यवाही के लिए करने दें या भारत पर आक्रमण करने वाले आतताईयों को प्रश्रय दें। ये कुछ लक्ष्मणरेखाएं हैं जिसे भारत अपने पड़ोसी देशों को पार करने नहीं देगा।

(ज) वैश्विक रणनीति के निर्माण में प्रवासी राष्ट्रों के हितों का ध्यान रखना :

हम कह चुके हैं कि हमारे पड़ोसी राष्ट्र हमारी वैश्विक रणनीति के कार्यान्वयन के लिए किए गये हमारे कार्यों या उपायों को अपने ऊपर खतरा समझते हैं और इसकी प्रतिक्रिया में ऐसे कदम उठाते हैं जो क्षेत्रीय सुरक्षा की स्थिति को अस्थिर और खतरनाक बना देते हैं। इससे हमारे द्विपक्षीय संबंधों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भारत को चाहिए कि अपनी वैश्विक रणनीतियों के बारे में यथासंभव अपने पड़ोसी देशों का विश्वास प्राप्त करे। इसलिए इन नीतियों में निहित इरादों को पड़ोसी राष्ट्रों के समक्ष स्पष्ट करने के लिए इसे पहल करनी चाहिए। खासकर यह स्पष्ट करना चाहिए कि इन नीतियों को अपनाने के पीछे पड़ोसी राष्ट्रों के हितों को क्षति पहुंचाने, खासकर उनकी सुरक्षा को संकट में डालने का उसका कोई इरादा नहीं है। उसके लिए हम एक नियमित परामर्श-प्रणाली स्थापित कर सकते हैं। लेकिन, हम केवल पड़ोसी राष्ट्रों की गलतफहमी को दूर करने के लिए अपने कद को छोटा नहीं कर सकते और न दक्षिण एशिया के बाहर के देशों से आने वाले सुरक्षा-खतरों को नजरअंदाज कर सकते हैं।

(झ) भारत-समर्थक और भारत-विरोधी विभाजन :

भारत में बहुत तबकों को पड़ोसी देशों के राजनीतिक दलों या व्यक्तियों को भारत-समर्थक या भारत-विरोधी की संज्ञा देने की आदत है। जैसे बांग्लादेश में मुक्तियुद्ध के समर्थकों को भारत-समर्थक और इसके विरोधियों को भारत-विरोधी माना जाता है। उसी आधार पर अवामी लीग को भारत-समर्थक और बीएनपी को भारत-विरोधी कहते हैं। उसी प्रकार नेपाली कांग्रेस को भारत-समर्थक माना जाता है और राजतंत्र से जुड़े राजनीतिक दलों को भारत-विरोधी समझा जाता है।

ऐसा विभाजन कृत्रिम, भ्रामक और ऐतिहासिक एवं तथ्यगत दृष्टिकोण से गलत है। किसी भी व्यक्ति या दल के विचारों, रूखों एवं चिंतन या कार्य-प्रणाली में कालांतर में आमूल परिवर्तन हो सकते हैं। इसलिए कल के भारत-विरोधी आज प्रबल रूप में भारत-समर्थक हो सकते हैं और इसका उलटा होना भी इतना ही सत्य है। इसके अलावा, प्रत्येक राजनीतिक दल में भारत-समर्थक और भारत-विरोधी दोनों तत्त्व हैं। जिन्हें हम भारत-विरोधी राजनीतिक दल समझते हैं वे भी सत्ता में आने पर भारत से संबंध बढ़ाना चाहते हैं। इसका कारण है, सभी पड़ोसी देशों के लिए भारत का पड़ोस में सबसे महत्वपूर्ण राष्ट्र होना। करीब-करीब सभी पड़ोसी देशों की विदेश-नीति की सफलता का एक बहुत बड़ा मापदंड है- भारत के साथ के संबंधों को बढ़ाना या कम-से-कम उन्हें सही रास्ते पर रखना। इसलिए यदि भारत उनका तिरस्कार न करे और घरेलू ताकतों, खासकर फौज की, प्रतिकूल प्रतिक्रिया न हो, तो हर सत्तारूढ़ राजनीतिक दल भारत के साथ अच्छा संबंध बनाए रखने की चेष्टा करता है। इसलिए, भारत का भी यह कर्तव्य है कि किसी भी राजनीतिक दल या सरकार को भारत-विरोधी समझकर तिरस्कार करने के बदले उससे सतत संपर्क बनाये रखे और सतत संलाप के माध्यम से द्विपक्षीय समस्याओं का हल ढूंढने की चेष्टा करे।

पड़ोसियों से संबंध बनाए रखने में भारत को इस मान्यता से चलना चाहिए कि पड़ोसी देश के विदेश-नीति निर्माण से संबद्ध प्रत्येक व्यक्ति और राजनीतिक दल सर्वप्रथम राष्ट्रवादी होगा। उसका उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों की सिद्धि करने का होगा। ये हित भारत के हितों के प्रतिकूल भी हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, बांग्लादेश में आम सहमति है कि भारत को फरक्का बैरेज कभी नहीं बनाना चाहिए था। पाकिस्तान में आम सहमति है कि कश्मीर को पाकिस्तान का हिस्सा होना चाहिए था। नेपाल में बहुत लोग वहां की बड़ी नदियों पर विशाल बांध बनाने के खिलाफ हैं किंतु, भारत के लिए ऐसी परियोजनाओं का बड़ा महत्व है। इन देशों में बहुत लोग जो ऐसा सोचते हैं, भारत-विरोधी नहीं हैं; वे केवल अपने राष्ट्र के हितों के समर्थक हैं। इन लोगों को भारत-विरोधी समझना निष्प्रयोजन और हानिकारक है। ऐसा करने का अंतिम परिणाम होगा- सारे विश्व को ही भारत-विरोधी करार दे देना। यह तो भारतीय कूटनीति का स्वतः प्रदत्त पक्षघात होगा।



हांडी भरी यातना

शोभनाथ शुक्ल

आज की घटना पूरे गांव वालों को बहुत नागवार गुजरी थी। यह पहली बार हुआ था कि पक्ष-विपक्ष सभी के मुंह पर इसकी निंदा थी। जितने मुंह उतनी बातें नहीं बल्कि एक ही बात थी और वह यह कि 'हे ईश्वर! ऐसा पुत्र किसी को न दे और दे भी तो जन्मते ही काल लील ले तो ही ठीक..।'

'.....स्साला हरामी.....नीचताई की भी कोई हद होती है इसने तो रिश्ते पर ही मूत दिया, अब क्या रह गया? अब तो जी चाहता है कि इसे उल्टा लटकाकर वैसा ही किया जाए जैसा इसने अपने बाप के साथ किया है। हरामी कहीं का.....। और इनकी बहुरिया..... स्साली बिच्छू की औलाद है बिच्छू की.....। नाक न हो तो गू-मूत सब खा पी लें..... अरे यही गति तुमरौ होई, घबरा ना रौंड़ो SS.... जब लड़कय तोहार डंडा डरिहैं तब याद आई इ दिन....। सुअर की औलादों..... हाथ भर घूंघट काढ़े से शराफत नहीं आती है न.....।' काका रामदेव के होंठ गुस्से से कांप रहे थे। वे क्या बोले जा रहे थे उन्हें खुद पता नहीं था। वे कभी बैठ जाते, कभी खड़े होकर टहलने लगते। राधाकांत की गुहार पर आए लोग भीड़ में तब्दील हो गए थे और काका रामदेव के गुस्से का समर्थन सभी की जुबान पर था। हर-एक अपने-अपने ढंग से गालियां निकालकर घटना पर खीझ व्यक्त कर रहा था।

रमाकांत उर्फ मिसिर भइया... चारपाई पर अचेत पड़े थे। कभी आंखें खोलकर भीड़ का जाएजा लेते और फिर तिलमिला उठते। दिल में एक हूक, एक कचोट सी होती और फुसफुसा पड़ते... 'हे प्रभू कहां मुंह दिखाऊं, कभी जिन बच्चों पर इतना गर्व था कि बखान करते नहीं थकता था और आज... इनकी नीचता और अपराध की क्या सजा हो सकती है भला? वे मन ही मन बुदबुदाए। ".....यदि मैं जज होता तो क्या इन्हें कारागार में जीवनपर्यंत के लिए न ढ़केल देता.....यह सजा भी शायद कम ही होती इन हरामजादों के लिए.....।'"

रमाकांत उर्फ मिसिर भइया..... जरौली गांव के हीरा माने जाते रहे हैं। फतेहपुर की जिला स्तरीय कुश्ती में अब्बल आकर कभी उन्होंने इस गांव को सुर्खियों में ला दिया था। तब वे जवानी के दिन थे। अब तो उमर सरककर आ पहुंची 72-73 साल परचेहरे पर हर वक्त छाई मुस्कान उनकी एक खास पहचान बन गई थी। कद पांच फिट दस इंच से कम नहीं होगा। रंग गोरा-चिट्टा। तंदुरुस्त शरीर के मालिक मिसिर भइया की जुबान से कभी गाली का एक लफ्ज भी निकला हो इसे किसी ने शायद ही कभी सुना हो। गांव के दुख दर्द में शामिल होते। खेती-बाड़ी से फुरसत होती

तो घर-गांव का हाल-चाल लेते। उनके रहते गांव का एक भी मुकदमा कभी अदालत नहीं पहुंचा। सारे झगड़े मिल-बैठ सुलझा लेते और लोग उनकी बातें मानते। हालांकि वे कभी न तो सरपंच रहे न ही प्रधान.....। पूरी उमर परोपकार में लगा दी।

लेटे-लेटे अचानक उन्हें खांसी आती है। खांसते-खांसते उन्हें बेचैनी महसूस होती है। लगता है जलते मिरचे का धुंआ उनके अंदर गुबार बनकर मथ रहा है। वे धीरे-धीरे फिर अचेत हो जाते हैं।

पुत्र को खो देना शायद उतना दारुण नहीं होता, जितना जीते जी पुत्र द्वारा दिए अपमान का घूंट पीते रहना। और चाहकर भी न मर पाने की दशा में कलेजे में धंसी कील की चुभन से हर वक्त छटपटाते रहना.....। बड़ा दुःखदाई होता है यह सब। आज पहली बार इस अपमान की तीव्रता के अहसास से छटपटा रहे रमाकांत के अंदर इतनी भी ताब नहीं रही है कि वे भीड़ की तरफ करवट बदल सकते। काका रामदेव के कहे में उसी तरह की चुभन का भान था किंतु वे न तो हां में हां मिला सकते थे और न ही उसका प्रतिकार कर सकते थे।

वे इसी उधेड़बुन में कब अतीत में खो गए इसका पता ही नहीं चला। शायद भीड़ को इसका भान हुआ भी या नहीं, पर धीरे-धीरे भीड़ छंट गई थी और रामदेव भी यह कहते हुए अपने घर की ओर चले गए थे कि मिसिर भैइया.....थोड़ी देर के लिए सब कुछ भूल जाओ..... न अतीत की तरफ भागो न वर्तमान में रहो..... दोनों के बीच के समय में स्थित हो जाओ, यही स्थिरता ही शायद दुःख से निजात दिला पाएगी.....’ पर मिसिर भैइया तो कब के अतीत की झील में यादों की सीढ़ियां लगाकर उतर चुके थे जहां दुख को भुलाने के अद्भुत संस्मरण छिपे थे, जहां वर्षीली हवाओं की न तो चुभन थी न बबूल के कांटों की सेज थी। वहां न तो जलते मिरचों की भभकती कडुवाहट थी न ही अपमान जनित जीवन की बेहिसाब पीड़ा..... वहां तो पर्वत शिखर पर छाई धवल बरफ से बहते निर्मल झरने की फेनिल हंसी की तरह सब कुछ पवित्र व शुभ था। पत्नी की चपलता थी, बच्चों की शरारत थी और उनकी खिलखिलाहट से गूंजता घर-आंगन था। सिर्फ यही था, इसके सिवा और क्या था.....? रमाकांत उसी की तलाश करते यादों की झील में और गहरे उतरते जा रहे थे।

‘.....बाबूजी.....।’ यह राधाकांत की वीबी की आवाज थी। वे इस आवाज को अच्छी तरह पहचानते हैं। इस आवाज में सहज आत्मीयता और अपनत्व हुआ करता है। इस आवाज में उन्हें हमेशा आदर्श गृहलक्ष्मी की खनक सुनाई पड़ती थी, पर आज की आवाज में कंपन था, जैसे अपराध के प्रायश्चित्त का भाव छुपा हो उसमें। न कोई खनक, न कोई उत्साह..... एक मरियल और बोझिल सी आवाज उनके स्नायुओं में रेंग गई थी।

रमाकांत ने आंखें खोली या यों कहिए खोलने की कोशिश की किंतु वे पूरी तरह खुल नहीं पाई। कीचड़ और आंसुओं के मिश्रित अवसाद से वे अधखुली ही रह गईं। एक लासा सा उन्हें अपनी आंखों में फैला महसूस हुआ। आज पहली बार उनकी आंखें उनका साथ छोड़ती सी लगीं।

तिहत्तर साल की उमर में अभी भी वे कहां चश्मा लगाते थे। गहरी झील सी आंखें निर्मल थीं और अपनत्व का असीम सागर लहराता रहता था उनमें। दांत तो लगभग पूरे के पूरे थे। चाल में गजब की मस्ती व फुर्ती थी। सुबह नियमित कसरत व प्राणायाम में रमते थे, फिर घर के जानवरों को बाहर छोड़ आते, खेती-बाड़ी घूम आते, सानी-पानी का जुगाड़ बैठा देते और शाम को चौपाल

बैठती, किस्से, कहानियां, संस्मरण देश-परदेश के रास्ते बहते बहस के केंद्र में तैरने लगते।

मिसिर भइया यूं तो ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे। मैट्रिक के बाद शादी और फिर दो साल के बाद गौना..... अभी तक तो सब कुछ स्वप्निल व रोमांचक था।

उन्हें लगा वे वर्तमान में नहीं हैं। उन्होंने अपने को खींचा। वर्तमान तक आते-आते वे फिर फिसल गए और अतीत की स्वर्णिम रश्मियां अपनी डोर में बांध उन्हें झील की गहराई में लेकर उतरती चली गईं। फिर वे अचेत हो गए। इसी अवस्था में पहुंचने पर अब उन्हें आराम मिलने लगा है..याद आया गौना और उस रात की.....। बारह बज रहे थे। लंबी हँसी-मजाक के बाद मुंहफट, रामादेवी भौजाई द्वारा वे अंदर कमरे में ढकेल दिए गए। अन्दर गिरते-गिरते बचे, यों कहिए गिर तो गए थे पर कमरे के कोने से आई बेलौस खिलखिलाहट, जो चूड़ियों की खनक में मिलकर अद्भुत रंगत पैदा कर गई थी, से डर कर वे गिरते-गिरते संभल गए थे। कमरे में हल्की झीनी सी रोशनी हुई शायद यह उसके दांतों की धवलता से पैदा हुई रोशनी रही होगी, या उन्हें ऐसा आभास हुआ, वे बता नहीं सकते।

यह खिलखिलाहट उनकी पत्नी की थी.....अनुराधा, उनसे उमर में छः-सात साल छोटी। कद काठी सामान्य- गुड़िया सी अनुराधा इस समय आकर्षक लाल वस्त्रों में सुघड़ लग रही थी।

वे हिम्मत कर एक कदम आगे बढ़े..... तो उधर अपने आप में सिकुड़ने जैसी छुई-मुई प्रतिक्रिया हुई। उन्हें अपनी बेवकूफी पर शर्म आई। जलते दीपक की लौ तेज की..... कमरे में रोशनी का दायरा फैल गया। वे बैठ गए। फिर संभल-संभल कर बोलने की कोशिश की।

‘.....हालांकि आप का नाम अनुराधा है। पर मैं..... राधा ही कहूंगा.....’

उन्होंने साधिकार कहा।

..... उधर से कोई आवाज नहीं आई। निर्जन चुप्पी बनी रही।

“..... आओ, हम लोग बात करते हैं.....।”

चुप्पी का वहीं आलम कमरे में मौजूद था।

वे थोड़ी देर सोचते रहे फिर उठे और लपककर उसकी बांह थाम ली।

स्पर्श पाते ही अनुराधा मोम सी पिघलने लगी.....।

वे अपनी ढिंढाई पर हँसे, कुछ-कुछ विजयी भाव से, कुछ-कुछ आत्म प्रशंसात्मक लहजे में। किंतु पलक झपकने की सी तेजी में वह अब उनसे अलग खड़ी थी। उन्हें धक्का लगा। ऐसा धक्का उन्हें पहली बार लगा था। वे संभल कर भी संभल नहीं पाए और लड़खड़ा गए लेकिन अनुराधा ने बढ़कर उन्हें सहारा देकर संभाल लिया।

वे शरमाए, अपनी कमजोरी पर या उसकी निर्लज्ज आत्मीयता पर जो उन्हें पहली बार मिल रही थी। लेकिन वे बार-बार अपनी असफलता पर खींझ रहे थे और सही रास्ते की तलाश में थे। पर कहां क्या कमी थी वे समझ नहीं पा रहे थे।

अनुभवहीनता उतनी खतरनाक नहीं होती जितनी ज्ञानहीनता। अनुभव और विकास को सतत बनाए रखने का मूल तो ज्ञान ही है। रमाकांत सोच में पड़ गए। फिर वे अपनी अज्ञानता पर झुंझलाए। बात का सिरा कहां से पकड़े कि पकड़ मजबूत होती जाए और तब तक न छूट पाए जब तक कि.....कुछ हासिल न हो जाए। स्त्री देह में उतर जाने की चाह ही पुरुष के लिए शायद ‘कुछ

हासिल' करने का मतलब होता है।

उन्हें अनुराधा नाजुक- निरीह बलि की बकरी सी लगी। एक क्षण के लिए वे ठिठके..... फिर उन्होंने तेजी से अनुराधा की अंगुलियां छू लीं। फिर उसे- पकड़कर कलाई तक पहुंचे और खींच लिया उसे.....। वे प्यार की उस मादक घड़ी को पी जाना चाहते थे। यह पहली रात थी उनकी।

रमाकांत के चेहरे पर जुम्बिस हुई। उन्हें लगा कोई उन्हें पुकार रहा है।

- '.....बाउ SS.....जी..SS.....।'

वे कुनमुनाए। एक छाया सी उन्हें खड़ी दिखाई दी अपने सामने। उठ बैठे। ऐसे उठे कि किसी को आभास न हो पाए कि वे अब तक कहां खोए हुए थे?

- '..... हां बहू...SS.....' वे कराहे।

- '..... कुछ खा लीजिए बाऊ...SS.....जी..SS.....'

- '..... भूख कहां है अब.....भूख नहीं है बहू.....' वे वेदना से तड़पे।

- '..... बाउजीSS..... जो हुआ वह कहां होना चाहिए था..... पर हुआ तो मान कर चलिए कि यह होना ही था। फिर अपने वश में कहां क्या है? जिसके लिए इतनी वेदना झेली जाए? आप भूलिए वर्तमान को, अतीत को और दोनों के बीच के समय को साधिए.....' फिर वह विचलित होकर कराह उठी। '.....हे भगवान! हम सब की रक्षा कीजिए.....भगवान की ही कृपा थी शायद गांव वाले मौके पर पहुंच गए नहीं तो हत्यारे..... हत्या कर डालते। अनर्थ हो जाता। इस अपमान का दंड क्या हमी सब भोगें बाउजी?और क्यों भोगें?' वह सिसक उठी। बहू की यह अवस्था रमाकांत को चुभ गई। उन्होंने बहू को आर्शीवाद दिया मन ही मन और करवट बदल ली।

उनकी आंखों में एक बार फिर वही मंजर छा गया और वे वर्तमान से अतीत, अतीत से वर्तमान के बीच झूलने लगे.....। राधाकांत ने उनके सिर पर हाथ फेरा..... इन्हें इसका आभास तो हुआ किंतु कोई हरकत नहीं हुई। उनके ताव को, उनके मान को यह घटना तोड़ चुकी थी फिर भी उन्हें लगा यह उन्हें चिंदी-चिंदी करने पर उतारू है।

रमाकांत के तीन पुत्रों में राहुलकांत सबसे बड़ा था, देवकांत दूसरे नंबर पर थे। राधाकांत सबसे छोटे पुत्र थे। तीनों शादीशुदा थे, परिवारदार थे और मजे में थे। रमाकांत ने बड़े पुत्र में कभी इंजीनियर बनने की संभावना तलाशी थी किंतु वह बी.एस.सी. के बाद एक डिग्री कालेज में लिपिक बन गया। बचपन से ही वह पैसे का मोही था और नौकरी के बाद शराब और कबाव धीरे-धीरे उसके खानपान में शामिल होता गया। पिता से इसको लेकर खुन्नस रहा करती थी। मझला किसी तरह हाई स्कूल पास हुआ था और कानपुर की एक फैक्ट्री में प्राइवेट नौकरी करता था। आमदनी कम थी किंतु खर्चशाह था और हमेशा पैसे के लिए पिता से किचकिच किया करता था। आरामतलब इतना कि गांव में ही हलवाहे को बुलाने के लिए मोटरसाइकिल से जाया करता। व्यवहार में झगड़ालू देवकांत कभी-कभी इसी पैसे की खुन्नस में आकर अपनी बीवी-बच्चे तक पर हाथ उठा देता। रमाकांत को यह सब बड़ा नागवार गुजरता। वे समझाते।

'..... खेती में इतना पैदा हो जाता है कि खाने के लाले पड़ने जैसी कोई बात कभी नहीं हुई। घर में दूध-दही है, आप लोग जो भी कमाते हो उसे बच्चों को पढ़ाने और अपनी शान-व-शौकत

में खर्च करो, मुझे क्या चाहिए.....?’ पर इसका असर दोनों भाइयों पर कम ही पड़ता।

राधाकांत पढ़े तो थे पर उन्हें बाहर जाने की इजाजत पिता ने नहीं दी। राधाकांत मृदुभाषी, व्यवहार में सभ्य और परिवार के प्रति जिम्मेदार थे। खेती-बाड़ी का काम तो वे देखते ही थे और आज्ञाकारी पुत्र की भांति व्यवहार भी करते थे। एक प्रकार से घर का मालिकाना उन्हीं के पास था। रमाकांत छोटी बहू को मालकिन कहकर पुकारते तो अन्य बहूएं अंदर ही अंदर कुढ़ जाती और अपना अपमान महसूस करतीं। चूंकि परिवार अभी संयुक्त था तो छोटी बहू को अकसर ताने सुनने ही पड़ते थे। कभी खाने को लेकर, कभी काम-धाम को लेकर। जेठानियां तो जेठानियां ही थी, काम से पल्ला झाड़े रहती, बस मौके पर हाथ-पैर हिलाती और खिसक लेती.....। बाकी काम तो मालकिन के जिम्मे था ही।

गांव में अन्यो के मुकाबले उनके घर की माली हालत अच्छी थी। अनाज खाने भर को पर्याप्त होता। घर खर्च के लिए राधाकांत पैदावार का कुछ हिस्सा बेंच देते लेकिन उसका वे घर के निर्वाह व बच्चों की जरूरतों पर ही खर्च करते..... पत्नी की फरमाइशें कभी-कभार ही पूरा कर पाते। शान-व-शौकत के खर्चीले काम उन्हें पसंद नहीं थे बावजूद इसके परिवार के लोगों को शक था कि दोनों भाइयों के मुकाबिले राधाकांत मजे में है और ज्यादा मालदार हो गया है। शक की सुई पहले धीरे-धीरे घूमती थी अब उसकी गति तेज हो गई तो बात फैसला कर लेने तक आ पहुंची।

रात को दोनों पुत्र सीधे रमाकांत के पास पहुंच गए। बहूएं भी इधर-उधर चहल कदमी करने लगीं। उस समय राधाकांत खाना खा रहा था वह सबसे बाद में ही खाना खाया करता था।

बात शुरू की मझले ने-

‘...बाबूजी, अब काम नहीं चलेगा। हम लोग चाहते हैं कि हमारा हिस्सा हमें मिल जाए।’ रमाकांत चुप बैठे रहे।

-‘.....हां बाबूजी देवकांत ठीक ही तो कह रहा है.....अब घर में छुप-छुपा कर बहुत कुछ हो रहा है। इतना अनाज पैदा हो रहा है, खलिहान भर जाता है पर घर में जाने कहां गुम हो जाता है, गाय-भैंस लगती हैं पर हमारे बच्चों को दही-घी महीनों नसीब नहीं होता..... हमारी औरतें तरसती हैं एक चम्मच दूध-घी के लिएकाम ऊपर से दिन भर.....। मालकिन कोई बनकर मजा उड़ा रहा है.....अब बहुत हो गया बंटवारा हो जाए तभी ठीक है..... और दूसरी बात यह कि हम लोग दिन भर बाहर रहते हैं घर में हमारी औरतों को कोई तवज्जो नहीं दी जाती.....।’ एक सांस में राहुलकांत ने अपनी भडास निकाल ली।

रमाकांत कुछ समझाने के लिए मुंह खोलते कि मझले ने अपनी कडुवाहट उगलना शुरू कर दिया-

‘.....अब हमें इस घर में गैरों जैसी स्थिति में रहना पड़ रहा है, एक की बहुरिया मालामाल हो रही है और हम भिखारी होते जा रहे हैं,.....हमें अपना हिस्सा चाहिए.....राधाकांत को बुलाओ, अभी फैसला होना है.....।’

राधाकांत तब तक खाना खाकर आ चुका था। माहौल में तल्वी का आभास हुआ उसे। भाइयों की तरफ मुखातिब होता कि बड़ी भौजाई, जो अब तक इर्द-गिर्द ही टहल रही थी, चिल्ला उठी...

‘..... राधाकांत क्या बताएगा, बताना तो हमें है..... अरे ये दोनों तो धान भी कूट ले रहे

हैं और कंखरी भी ढांप ले रहे हैं... इनकी चालाकी का मुकाबला भला हम कहां कर सकते हैं... ।’
बड़ी बहू के चुप होते ही मझली ने ऐसा माहौल बना दिया कि सभी चुप हो गए। लगभग चीखते-सिसकते हुए उसने तो ऐसी बात कह डाली कि रमाकांत ठकरा मार गए, जैसे सांप सूंघ गया हो उन्हें।

‘..... अब भला बताओं, इस उमर में बुढ़ऊ.....जांघ खोलकर दिखाते पड़े रहते हैं....
...इन्हें यह भी मालूम नहीं कि घर में बहुरियां भी हैं..... इनकी नजर हमेशा ऊंची-नीची होती रहती है..... अब तो नहाना धोना भी खतरे से खाली नहीं है..... मुझे तो अब इस घर से डर लगता है..... ।’ उसकी सिसकी और बढ़ गई थी- ‘.....हमें अलग कर दो..... हम नून-रोटी खा कर रह लेंगे पर साथ नहीं रहेंगे। हमें तो अब मालकिन और मालिक पर भी भरोसा नहीं रहा कब हमारे खाने में कुछ उल्टा-सीधा मिला दें तो हमारे बच्चे अनाथ हो जाएंगे.....,’ कह कर उसने अपना माथा पीटा फिर दोनों हाथों सिरथाम कर बैठ गई।

रमाकांत की आंखों के आगे अंधेरा छाने लगा। वे कुछ कह पाते इसके पहले ही राधाकांत की बीवी धीरे से बोल पड़ी-

‘..... भाई साहब मालिकाना लेने की ही बात है तो वह हमें नहीं चाहिए- आप में से कोई भी यह ले ले..... हम तो वैसे ही दिन भर खटते रहते हैं और चार बात ऊपर से सुनना पड़ता है.....हमें यह सब नहीं चाहिए..... दूध, दही, अनाज-पानी सब घर में रहता है और न कहीं ताला ही बंद है। हां बाबूजी की भलमनसाहत पर सवाल उठाना, यह गलत है..... हमीं सब से यह परिवार बना है और हमीं सब बिखर जाए तो परिवार टूट जाएगा..... । हम तो चाहते हैं कि बाबूजी के जीते जी बंटवारा न हो, तो ही ठीक..... मान मर्यादा तो बची रहेगी..... ।’

-‘.....तुम्हारे इतने लंबे-चौड़े भाषण को सुनने हम नहीं बैठे हैं यहां..... । तुम तो चाहोगी ही कि सब ऐसा ही बना रहे और तुम्हारी झोली वजनी होती रहे..... हमें राग माया मत बताओ.....समझी..... ।’ मझले ने किचकिचाते हुए प्रतिवाद किया।

रमाकांत ने चुप कराने की नियत से उंगली उठाई और कुछ कह पाते इसके पहले ही बड़ी बहू बिल्ली की तरफ झपट्टा मार चुकी थी-‘.....ई सब चोंचली बाजी अब नहीं चलेगी। बहुत हो चुका.....हम सब अब और कंगाल नहीं होना चाहते.....बहुत टिपिर-टिपिर बोल रही हो.....शरम लाज सब धोकर पी गई हो, जब से आई हो तभी से.... । अब बड़ी भक्तिन न बनो.....चुपके-चुपके सब कुछ, जो हो रहा है, हम देख रहे हैं। बस जो ढका है उसे उघाड़ो मत.....बड़ी आई है.....छिनार कहीं की..... ।’

‘..... बस बहुत हो गया, खबरदार अब एक भी लज निकाला तो..... ।’
पहली बार राधाकांत आपा खो बैठे थे।

‘..... तू क्या कर लेगा..... तेरी यह मजाल.....बस्स, सब बाबूजी की वजह से हो रहा है..नहीं तो तेरी क्या मजाल.....हां, तू मेरी पत्नी को आंख दिखाएगा..... खेती का सारा माल हड़प रहा है और हमीं को आंख दिखा रहा है.....बस चुप्पऽऽ..... तो चोप्पऽऽ..’

‘..... नहीं तो क्या कर लोगे..... हमारी भी वही हैसियत है जो तुम्हारी है..... तुम सब ने एक पैसा भी अपनी कमाई का कभी लगाया घर में..... ।’

फिर क्या था मझला दौड़ पड़ा और राधाकांत के गले में लटक रहा गमछा फंदा जैसा लपेटकर कसने लगा।

रमाकांत उर्फ मिसिर भइया.....एक क्षण के लिए असहाय और असहज हो गए.....फिर तत्काल उन्होंने अपने को संभाला और चारपाई से चीता सदृश्य उठे और देवकांत को वह कंटाप मारा कि वह लरबराकर गिर पड़ा, तब तक राहुलकांत और दोनों की बहुरंग गालियां बकतीं पिता की ओर दौड़ पड़ीं।

‘....अब बस्सSS.....बहुत हो गया, खबरदार जो आगे कदम बढ़ाया.....एक-एक को काट डालूंगा। हरामखोर.....पूरी कमाई तुम सब पर लुटा दी और आज तू और तेरी मेहरियां क्या बक रही हैं? तू सुन रहा है कि नहीं.....कैसा हिस्सा, किसका हिस्सा.....? नौकरी का वेतन तो तू पी रहा है.....राधाकांत और उसकी बहू घर-खेत न देखते तो अब तक कब का भिखारी हो गए होते तुम सब.....।’

‘.....हमें आप का भाषण नहीं अपना हिस्सा चाहिए बस.....। अन्यथा जो नहीं होना चाहिए वह होगा..... हम राधाकांत की लाश बिछा देंगे..... और उसकी विधवा बहुरिया के साथ हम क्या करेंगे उसे तब देखना.....।’ देवकांत की आंखों में खून उतर आया था। उसकी जुबान से फेन निकल रहा था और वह रह-रह कर दांत भींच रहा था।

राधाकांत और उसकी बहू ने बाबूजी को आगे बढ़ने से रोक लिया। रमाकांत बगल पड़ी कुल्हाड़ी उठा चुके थे और उनका इरादा इस समय नेक नहीं था। क्रोध की चरम अवस्था में वे पहुंचे हुए थे, और कुछ भी कर सकते थे। राधाकांत ने गिड़गिड़ाते हुए बाबूजी से सब कुछ बांट देने के लिए हाथ जोड़ा.....। उसने अपने भाइयों से भी इसके लिए हाथ जोड़े कि गांव में उनकी पुश्तैनी इज्जत अभी तक बरकरार है उसे मटियामेट न करें। कल सभी इसे मिल बैठकर तय कर लें.....।’

उस शाम घर में चूल्हा नहीं जला। बच्चे आसी-बासी खाकर सो गए। सब कुछ वैसा ही था पर घर आज काट खाने को दौड़ रहा था। रमाकांत द्वार पर इधर से उधर टहल रहे थे और बुदबुदा रहे थे। उनके हाथ.....उनकी उंगुलियां जाने किस हिसाब-किताब में व्याकुल व बेचैन थीं। राधाकांत और उनकी पत्नी सकते में थे। उनके लिए यह बंटवारा सिर्फ एक दीवार भर का अंतर नहीं था। यह बंटवारा शायद उनके लिए अपनेपन और ममत्व का बंटवारा था। बंटवारा कैसा हो घर का, खेत का, संपत्ति का, देश का.....बंटती तो हमारी सोच ही है, बंटते तो हम ही हैं। बंटवारे की एक लकीर महज लकीर नहीं होती वह एक बड़ी पीड़ा के साथ वैमनस्य की लकीर को जन्म देती है और फिर वह लकीर धीरे-धीरे बड़ी होती जाती है, जिसे काट पाना या उसे छोटा कर पाना बहुत मुश्किल होता है।

अगले दिन कोई काम पर नहीं गया। सुबह जेठानियां चाय के लिए तड़पती रहीं पर रसोई की तरफ नहीं गईं, शायद यह मालकिन का काम है कि वह सभी की खोज-खबर ले। बच्चे भी स्कूल नहीं गए थे। सभी के चेहरे उदास थे। राधाकांत की बीबी से नहीं रहा गया। उसने चूल्हा जलाया, चाय चढ़ाई, बच्चों को कुछ नाश्ता दिया और चाय छान कर रख दिया। बाबूजी और राधाकांत की चाय लेकर वह बाहर आ गईं।

‘..... बाउजी SS, चाय पी लीजिएबाऊजी।’ उसने हकलाते हुए कहा।

‘.....आप सोच-समझकर फैसला ले लीजिए जो जिसको चाहिए, दे दीजिए। आज सभी लोग रुके हैं, शायद इसी लिए रुके होंगे.....काहे को रार बढ़े.....। जमीन-जायदाद बनाने वाले का पसीना कभी नहीं सूखता बाऊजी.....पर औलादें उसकी कोई इज्जत नहीं करतीं। उन्हें सिर्फ उसकी कीमत से मतलब होता है.....। हमें कुछ नहीं चाहिए बाबूजी, हमें आप का आशीर्वाद चाहिए जो जमीन मेरे हिस्से में आएगी हम मेहनत से उसमें सोना उगवा लेंगे। मेरे जीते जी आप अपनी चिंता न करें.....। पर आज आप कोई फैसला जरूर ले लें.....सब अपने ही तो हैं..... उन सा आप सोंचेंगे तो फिर उनमें और आप में क्या अंतर रह जाएगा.....बाबूजी बुलाइए उन्हें.....।’

चाय सुड़कते रमाकांत की सोच करवट लेने लगती है। उन्हें बहू की बातों में सत् नजर आया। उन्हें बहू पर गर्व हुआ- पढ़ी लिखी होने का, विचारवान होने का, यही तो मतलब होता है.....। उन्हें याद आता है..... इंटर पढ़ रही लड़की का गौना करा लाए रमाकांत बाद में किताबों के प्रति उसकी ललक कम नहीं करा पाए तो उसकी भनक लगते ही बहू को आगे पढ़ने की छूट दे दी थी और आज वह दो बच्चों की मां के साथ एम.ए. है और गांव के गरीब अनपढ़ों को साक्षर बना रही है निःशुल्क, निःस्वार्थ.....। इसे सोच कर रमाकांत का सीना चौड़ा हो जाता है।

‘.....राधे.....।’ बाबू जी ने आवाज लगाई।

‘.....जी बाबूजी.....आया।’ राधाकांत ने उन्हें तुरन्त आने के लिए आश्वस्त किया।

‘.....सब को बुलाओ, अभी इसी वक्त.....मैंने तय कर लिया है.....।’

बाबूजी ने जैसे अपना फैसला सुना दिया हो।

बंटवारे के बाद सब कुछ रूखा- रूखा, सूना-सूना सा लग रहा था। बाढ़ के बाद वीरानगी सा था घर का माहौल। बड़े और मझले ने क्रमशः पूरब और पश्चिम की तरफ दरवाजा फोड़ लिया था। राधाकांत को मुख्य दरवाजे की तरफ का हिस्सा मिला था। बंटवारा क्या था, लूट खसोट ही उसे कहा जा सकता है। दोनों भाइयों ने मनमानी चीजें ले ली थी और अंत में सबके बदले मुख्य द्वार का हिस्सा दिया था राधाकांत को।

‘माई बाप कहां रहेंगे.....’ बंटवारे के बाद अकसर इस तरह के प्रश्न उठते ही हैं इसलिए यह प्रश्न उठे, इसके पहले ही राधाकांत ने पिता के साथ रहने की इच्छा जता दी थी। फिर भी वह सबको अपना निर्णय लेने की स्वायत्तता देना चाहता था। घंटों चुप्पी छाई रही किसी के कुछ न बोलने के बाद खुद रमाकांत ने इस प्रकरण का यह कहते हुए पटाक्षेप कर दिया कि राधाकांत और उसकी बीवी ही हमारे आशीर्वाद के पात्र हैं। तब दोनों बेटों-बहुओं ने चैन की सांस ली थी।

सब कुछ ठीक-ठाक चलता रहा। राधाकांत ने खेती में जी-जान लगा दी। गाय-भैंस खड़ा किए। खेती और परिवार दोनों बढ़ने लगे। जब कि बड़े भाइयों की बीवियां अगल-बगल बैठ कर दिन भर चुगल खोरी करतीं, देख-रेख के अभाव में उनके जानवर मरते गए। खेती अधिया पर पहुंची फिर बच्चों की पढ़ाई व शादी की तैयारी के लिए धीरे-धीरे टुकड़ा दर टुकड़ा बिकने लगी.....।

दो साल बीत गए कि अचानक पुरानी घटना फिर आकार लेने लगी। ‘..... आखिर बाबूजी राधाकांत और उसकी बीवी के पास ही क्यों रहना चाहते हैं। हो न हो कुछ बात जरूर है और इसके पीछे कोई गहरा राज है.....।’ बड़ी बहू की यह सोच मझली तक पहुंची..... फिर धीरे-धीरे इनके पतियों तक सरकी..... फिर बहस के केंद्र में आ गई और रोज व रोज घंटों इस पर चिंतन मनन

होने लगा। इस दौरान बातों से नई बातें पैदा होने लगीं और बात यहां तक आई कि हो न हो बाबू जी बंटवारे के बाद जेवरात व नकदी आदि राधाकांत व उसकी बीवी को चोरी -छिपे अवश्य सौंप दिए हों तभी उनकी आवभगत है और उसकी खेती-बाड़ी भी चमक उठी है।

राहुलकांत की आदतें पहले के मुकाबिले काफी बिगड़ चुकी थीं। कभी-कभी तो वह पैसे के अभाव में गांव वालों से कर्ज भी लेने लगा था। मझला अब अपनी बीवी को रोज मारने लगा था और दो-चार दिनों के लिए तो वह अकसर घर से गायब रहने लगा। ऐसी आर्थिक तंगी में दोनों भाइयों को बीवियों की बातों में सोने के अंडे दिखाई पड़ने लगे। अंततः शाम बैठी उनकी आपसी पंचायत में यह निर्णय हो गया कि चलकर सीधे बाबूजी से ही इसके बावत पूछताछ की जाए। तभी सच सामने आएगा।

अलग होने के दो साल के बाद पहली बार दोनों भाई व उनकी बीवियां रमाकांत के सामने उपस्थित थे। रमाकांत को उनकी उपस्थिति अच्छी लगी.....।

‘.....बोलो कैसे आए राहुल.....बहुत दिनों बाद याद आई हमारी.....बोलो कैसे हो तुम सब.....?’ रमाकांत का परिवार प्रेम उमड़ पड़ा था और वे उनके बारे में सब कुछ शुभ ही शुभ देखना व सुनना चाहते थे।

‘.....हम आप से सिर्फ यह जानने आए हैं कि.....’ वह थोड़ी देर रुका। अपने को संयत किया और फिर बोला..... ‘हम यह जानने के लिए आए हैं कि आप राधाकांत और उसकी बीवी के साथ ही क्यों रहना चाहते हैं.....इतनी आवभगत के पीछे क्या राज छुपा है। हमें यही जानना है.....’ देवकांत की बातें तीर की तरह चली और रमाकांत के कलेजे में कील सी चुभ गई। वे क्षण भर के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए और संयत होकर बोले.....

‘....क्या मतलब है तुम्हारा?... हम किसी के साथ रहे उससे अब तुम्हें क्या लेना-देना..।’

‘.....है लेना-देना बाऊजी SS.....है.....। हम सब कुछ जानते हैं, जो आप ने बंटवारे के बाद छुपाया। अब उसका नतीजा देख रहे हैं हम सब.....। राधाकांत दिन-दूनी रात चौगुनी रफ्तार से फल-फूल रहा है और हम सब भरे भादों जवास से सुखाए हुए हैं.....बताओं हमें, कितना माल छुपाकर दिया है अपनी छोटी बहू को.....बोलो.....।’ यह लड़खड़ाती आवाज इस बार नशेड़ी राहुल देव की थी।

रमाकांत को काटो तो खून नहीं.....। एक क्षण के लिए वे भौंचक रह गए। राधाकांत भाई की आवाज सुन जानवरों का चारा छोड़कर तुरंत दौड़ा आया था, उसकी बीवी भी घर से बाहर आ गई।

‘.....क्या बात है बड़े भाई? इतना गरम काहे हो.....?’ राधाकांत ने आत्मीयता भरे शब्दों में पूछा किंतु उसकी उल्टी ही प्रतिक्रिया हुई। मझला अगिया बैताल सा दीखने लगा। रह-रह कर ताल ठोंकता..... ललकारता और गाली बकता। राधाकांत की बीवी कुछ कहना ही चाहती थी कि मझले ने आव देखा न ताव भयेहू का हाथ पकड़कर खींचता हुआ गरजने लगा-

‘.....बता गहने और नकदी कितना दिया है तुझे बाऊजी नेस्साली बड़ी भगत बनती है..... हमरा हिस्सा निकाल नाहीं तौ अवरै कछू होई.....’ तब तक रमाकांत दांत भींचते हुए दौड़ पड़े तो उसने भयेहू का हाथ छोड़ दिया। अब की बारी बड़े की थी। उसने साफ-साफ दो टूक कहने

की कोशिश की किंतु नशे में उसकी जुवान अंदर ही अंदर बैठ गई। फिर भी कोशिश कर उसने हांक लगाई-

‘.....हे बाबूजी SS.....रार न बढ़ा.....हमें सब पता है.....हमें गहनों तथा नकदी में हिस्सा चाहिए तो चाहिए.....।’

रमाकांत उर्फ मिसिर भइया.....क्या कहते? कैसे समझाते कि उनके पास ऐसा कुछ नहीं था जो चोरी-छिपे राधाकांत को देते.....। और ऐसा करते तो क्यों करते.....? और अगर करते भी तो क्या राधाकांत की बीवी उसे स्वीकार करती? नहींकतई नहीं करती.....।

‘.....पुत्रों जो था। सबके सामने बंटा, उसके बाद मेरे पास ऐसा कुछ नहीं था जैसा तुम सब सोच रहे हो.....।’

‘.....तो आप काहे को इन्हीं के साथ रहना चाहते हैं और ये इतनी सेवा तुम्हारी काहे को कर रहे हैं?.....बताओ हमें बताओ.....’ मझला चीख उठा।

‘.....इनको जहां प्यार- सम्मान मिलेगा वहीं तो रहेंगे.....उस समय तो आप में से कोई तैयार नहीं हुआ.....घंटों चुप्पी साधे रहे आप लोग?’

राधाकांत की आवाज पर राहुल देव तिलमिला गया।

‘.....स्साले तू ही तो फसाद की असली जड़ है। चुप रह नहीं तो.....’

वह दांत पीसने लगा।

फिर राहुल देव ने तड़पकर कहा.....‘चल देव, यह बुढ़वा ऐसे न उगलेगा सच। कुछ और करना पड़ेगा..... यह बुढ़वा सठिया गया है। इस उमर में इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी है.....।’

धमकियाने के अंदाज में दोनों भाई पैर पटकते हुए चले गए। रमाकांत को थोड़ी देर के लिए स्थिर शांति का आभास हुआ। अब क्या होने वाला है वे इस पर केंद्रित हो गए। बड़ा कुछ भी कर सकता है और इनसे ज्यादा इनकी पत्नियां लोमड़ी सी चालाक व चतुर हैं। यह दृश्य देख राधाकांत की बीवी के हाथ-पैर फूलने लगे। उसने अपने अंदर के इस डर की चर्चा अपने पति से की तो राधाकांत ने उसे सहज भाव से समझाया कि कुछ असहज नहीं घटने पाएगा हालांकि इन सब की नीचता की कोई सीमा नहीं है। इस आश्वासन से वह थोड़ी के लिए ही आश्वस्त हो पाई थी। उसके अंदर कोई अनहोनी घटना आकार लेने लगी थी.....। राधाकांत खेत की तरफ निकल गए। बीवी भी घरेलू कामों में लग गयी लेकिन घंटा भर भी न बीता होगा कि दरवाजे पर मझले की आवाज गूंजी.....।

‘.....चल बुढ़ड़े..... अब पता चलेगा.....देखता हूं सच कैसे नहीं उगलता.....।’

रमाकांत सकते में आ गए.....।.....” यह क्या बात है जो बार-बार तू रट रहा है..... मैंने कहा न कि मैंने पूरी ईमानदारी से सारा कुछ बांट दिया है बल्कि यों कहो कि तुम सबने ज्यादा से ज्यादा राधाकांत का हक छीन लिया है.....अब क्या बकवास कर रहा है। अपना कमा खा किसी को परेशान न कर बेटा.....।’ रमाकांत का गला रुध गया। उन्होंने क्या इसी दिन के लिए इन्हें पाला-पोसा था। सब कुछ व्यर्थ गया..... पर नहीं ऐसा कहना भी बिल्कुल गलत होगा। छोटे भी तो मेरा ही पुत्र है। उसकी बीवी भी तो औरों की तरह दूसरे की ही बेटी है पर दोनों..... हे ईश्वर ऐसा ही पुत्र-बहू सबको दें। हमारे पुण्य-प्रताप का ही फल हैं ये दोनों शायद.....।

‘..... क्या सोच रहे हो..... बताओ, अब बता दो....., अब गहना व नकदी का बंटवारा फिर से होगा और अभी होगा..... ।’ यह बड़े की आवाज थी जिसमें प्रतिशोध का भाव हिलोरें मार रहा था ।

‘.....बेटा, मैं फिर कहता हूं कि मेरे पास अलग से कुछ नहीं था, जो था सबके सामने बंटा । मैंने कुछ भी अलग से किसी को नहीं दिया है.....विश्वास मान राहुल.....विश्वासमान..... ।’ रमाकांत की विवशता अपने अंतिम पायदान पर पहुंच चुकी थी ।

‘.....फिर क्यों इनसे चिपके हैं आप? बताइए हमें.....इसमें क्या राज है..... ।’ मझला चीखा ।

‘.....मैं तो तुम सबके साथ भी रहना चाह रहा था बेटा पर तुम सभी ने कहां मौका दिया । गांव में जो नाक कटाई कि फिर जुड़ नहीं पाई.....अरे अब तो सब्र कर.....तू सच जानता है कि तेरी मां की मृत्यु के बाद उनका सारा गहना और नकदी तेरी बहू ने रख लिए थे और आज तक सांस नहीं ली उसके बारे में..... ।’ रमाकांत किस ताकत से ऐसा कहते गए उन्हें खुद पता नहीं था ।

यह सुनते ही राहुल आग बबूला हो गया-

‘.....छोटी को देकर अब हमारी औरत पर उंगुली उठाता है.....तुम्हारी नीयत में हमेशा खोट रहा है । सच तो यह है कि सारा जेवरात और नकदी राधाकांत को सौंपा है और झूठ का पुलिंदा हमारी बीवी को सौंप रहा है.....मैं कुछ नहीं जानता । अब उगलोगे सच अभी और इसी वक्त सच सामने आएगा..... ।’ कहते हुए राहुल खुद दौड़ कर हड़िया उठा लाया । दोनों बहुओं ने मिलकर हंडिया में सूखा मिरचा, लोहवान और बबूल आदि के कटे डाल उसे सुलगा दिया था । हंडिया से भभकता धुंआ देख कर रमाकांत कांप उठे । उन्हें कुछ अकल्पनीय घटना हुआ जान पड़ा जो कभी नहीं घटा था ।

मझले ने रमाकांत को जोर का धक्का दिया और वे चारपाई पर लुढ़क गए । राहुल ने भभकते धुंए सी भरी हंडिया का मुख उनके मुख से सटा दिया । रमाकांत छटपटा उठे । चारपाई से उठने की कोशिश की तो देवकांत ने उनकी गर्दन दबा दी और सिर हंडिया के मुंह से सटा कर पकड़ लिया ।

धुंए का गुबार रमाकांत के अंदर भर गया । वे खांसने की कोशिश में और तड़पने लगे । आंख-नाक से पानी की धारा बह निकली और पूरा ब्रह्मंड घूमता नजर आया । उन्हें लगा वे सातवें आसमान पर किसी अंधकार के बियावान में भटक रहे हैं.....अन्दर कलेजे तक धुंआ ही धुंआ था और सांस बाहर निकलने का रास्ता भूल गई थी..... ‘हे प्रभु बचाओ..... राधेSS कहां हो बेटा SS.....’ वह कहना चाह रहे थे पर यह आवाज उनके अंदर ही घुट गई..... । उनकी तड़प ज्यों-ज्यों बढ़ती जा रही थी दोनों पुत्र एक स्वर में उन्हें सच उगल देने के लिए विवश कर रहे थे ।

‘.....बोल दो-सच बोल दो..... कितना जेवर कितना नकदी दिया है उसे..... हमारी चोरी..... । नहीं तो क्या होगा? जानते हो..... ।’

राधाकांत की बीवी को लगा कि सब अनर्थ हो जाएगा । उसकी आंखों से आंसुओं की धारा बह रही थी और वह बाबू जी को बचाने के लिए तड़फड़ा रही थी पर क्या करती जेठानियां उसे अपनी गिरफ्त में लिए खड़ी थी । इसी बीच किसी लड़के के माध्यम से राधाकांत को इसकी जानकारी मिली ।

वह खेत से बदहवास दौड़ा आया। दरवाजे का दृश्य देखकर वह अवाक् रह गया। दौड़ कर उसने बाबूजी को अलग करना चाहा कि मझले ने जोरदार लात जमाई और राधाकांत लड़खड़ा गया। फिर भी उसने अपने को छुड़ाया और जोर-जोर से चिल्लाता हुआ गांव की ओर दौड़ पड़ा।

इस समय उसकी आवाज बगुले के मुंह में फंसे केकड़े की आवाज जैसी थी। वह जोर..... और जोर से चीखना चाहता था ताकि गांव का जर्जा-जर्जा उसकी आवाज सुन सके और बाबूजी को बचाया जा सके। वह बदहवास..... गुहार लगाए जा रहा था.....‘बचाओऽऽ.....बाबू जीऽऽ को बचाओऽऽ....., बचा 5 ओऽऽ..... ।

उसके दरवाजे पर भीड़ कब इकट्ठा हुई उसे याद नहीं। बीच-बचाव और भीड़ के दबाव के बाद राहुल और देवकांत अपने परिवार के साथ वापस लौट गया था। राधाकांत को होश आया तो देखा बाबूजी अचेत पड़े थे। काका रामदेव अपनी पीड़ा गालियों से व्यक्त कर रहे थे। गांव की भीड़ का चेहरा पीला पड़ गया था। घर की गौरैया छप्पर में दुबक गई थी। सूरज ढल रहा था, तपिश कम हो गई थी..... ।

और रमाकांत उर्फ मिसिर भइया की बंद आंखों में अभी भी वह खौफनाक मंजर छाया हुआ था।



(लेखक सुपरिचित कवि और ‘कथा समवेत’ के संपादक हैं)

ऑल इज नॉट वेल

हसन जमाल

सलीम भाई को आप नहीं जानते। वे जिस शहर में पिछली छह दहाइयों से रहते चले आ रहे हैं, वह भी नहीं जानता! यहां तक कि उनकी अपनी गली के लोग भी। दुनिया में बहुत लोग होते हैं, जो होते तो हैं, पर उन्हें कोई नहीं जानता, पर इससे उसके दुःख-दर्द, गम, महरूमियां और तकलीफें कम तो नहीं हो जातीं।

सलीम भाई की तकलीफ क्या है? ये साफ तौर पर बताना जरा मुश्किल है इसलिए जब भी वे अपने दर्द को जबान देने की कोशिश करते हैं, तो उनका मुंह बंद कर दिया जाता है- सलीम भाई। ऑल इज वेल। आप तो नाहक फिक्र करते हो, थोड़ा बहुत तो सब जगह चलता है, हमें ये देखना चाहिए कि ज्यादातर लोग कैसे हैं?

सलीम भाई कहते हैं कि ज्यादातर लोगों की ब्रेन मैपिंग की जाए, तो कमोबेश सभी इस ख्याल के निकलेंगे कि ये लोग हमसे अलग हैं, गंदे हैं, बेशऊर हैं, लड़ाकू हैं, न खुद चैन से बैठते हैं, न दूसरों को बैठने देते हैं, ये सरासर हमारे यहां बोझ हैं और इनकी तादाद रोज-ब-रोज बढ़ती जा रही है अगर यही रफ्तार रही, तो एक दिन फिर अपने लिए अलग जमीन की मांग करेंगे, इन लोगों ने सारी दुनिया में दहशत फैला रखी है।

ऐसा नहीं है कि सलीम भाई के मिलने-जुलने वाले जाहिल, कम तालीमयाफता या एक खास सोच रखने वाले लोग हैं। उनमें ज्यादातर वेल एजुकटेड हैं और कई तो वामपंथी। मगर सलीम भाई के दर्द को महसूस कर पाना या उनकी समस्याओं को सही मायनों में समझ पाना उनके बूते की बात नहीं। इनसान जिस माहौल में जीता है, उस माहौल से बाहर क्या हो रहा है, वह उस की जानकारी से अछूता रह जाता है। दरहकीकत एक ही शहर में रहते हुए लोगों के समूह अलग-अलग टापुओं में रहते हैं कहने को दुनिया ग्लोबल विलेज है देखा जाए, तो हर शहर में कई-कई विलेज हैं।

सलीम भाई ने जब से होश संभाला, तब से यही देखा कि ऑल इज नॉट वेलै। कदम-कदम पर उन्हें ये महसूस हुआ कि वे दूसरों से अलग हैं, मदरसे में तो नहीं, मगर स्कूल में उन्हें ये सब देखना व भुगतना पड़ा। उनके साथ पढ़ने वाले दौड़ते हुए प्याऊ में जाते और किसी बाल्टी या मटके में लोटा डाल के पानी भरते ओर गटागट पीने लगते और वे टुकुर-टुकुर देखते रहते, अरे भई। मुझे भी पीना है तब किसी का ध्यान उनकी तरफ जाता और वह बहुत ऊंचाई से पानी गिराता और सलीम भाई ओक से पानी पीते और कोशिश करते कि जल्दी-जल्दी पी लें और कहीं पिलाने वाला भाग न जाए। इस चक्कर में कई बार पानी नाक के अंदर घुस जाता। जब रेसिस में दो-चार छात्र मिलकर

कुछ खा-पी रहे होते, तो सलीम भाई को उनका हिस्सा अलग कागज में दे दिया जाता। अब्ल तो कोई उन्हें अपने घर ले जाता ही नहीं था। कभी जाना पड़ जाता, तो उनके लिए शीशे का गिलास लाया जाता, क्योंकि उन्हें मालूम था कि 'ये लोग' मुंह लगाके पीते हैं और गोश्त भी खाते हैं। ये वह दिन थे जब देश में पहले चुनाव हो रहे थे। दलितों के साथ ही नहीं, मुसलमानों के साथ भी छुआछूत आम बात थी। सलीम भाई को याद है कि जब वे लड़कपन में सार्वजनिक नल पर पानी लेने जाते थे, तब मटका उठाते ही उसके बाद वाली साड़ी या लंहगेवाली कोई औरत या लड़की मिट्टी से रगड़-रगड़ कर टोंटी को धोती ओर फिर अपने बर्तन में पानी भरती। हरिजनों का तो और भी बुरा हाल था। वे दीवार पर खाली मटके रखकर घिघियाते रहते- 'बाबूजी म्हारे को भी पानी भरना है।' कभी उनकी सुनवाई होती, कभी नहीं होती। तब से अब तक नालियों में बहुत पानी बह चुका है। अब तो घर-घर में नल लग चुके हैं। होटल, रेस्टोरेंट, बाजार, दफ्तर मजाल है कि कोई उनके साथ हिकारत से पेश आए। कानून का चाबुक सामने लटका हुआ नजर आता है, जबान फिसली नहीं कि गए बारह के भाव।

वक्त तो बदला है, लेकिन सलीम भाई को लगता है, मुल्क का एक टुकड़ा जो अलग हो गया, उसका खामियाजा वे अभी तब भुगत रहे हैं। ये और बात है कि ये फांक, ये दुभांत न सरकार को नजर आती है, न अवाम को। ये जुमला वे कितनी ही बार सुन चुके हैं कि- यहां फिर भी ठीक है वहां होते तो क्या हाल होता? सलीम भाई कहते- 'वहां हम होते ही क्यूं? क्या ये हमारा वतन नहीं है? पीढ़ियां खप गई इस जमीन में लीडरों की लालची सियासत ने हमें अपनी ही जमीन पर गैर महफूज कर दिया।'

कोई और बात करो मियां, वर्ना बात बढ़ जाएगी, फौरन ही कोई टोकता और पतली गली से निकल जाता, विषयांतर, संवेदनशील मस्अले को मत उठाओ, वर्ना बात दूर तक चली जाएगी।

इसीलिए तो कहता हूं कि भाई। ऑल इज नॉट वेल। और सलीम भाई के दर्द को सुनने वाले हँसी में उड़ा देते सलीम भाई कुछ कहना व समझाना चाहते, मगर वह सब कुछ उनके दिल में ही रह जाता।

अब तो सलीम भाई रिटायरमेंट के करीब हैं। उनकी जब नौकरी शुरू हुई थी, तो दफ्तर में भी उन्होंने स्कूल का माहौल देखा था। वे दूसरों की तरह मटके में लोटा डालकर पानी नहीं पी सकते थे। उनके लिए अलग शीशे का गिलास था, उसी में पीना पड़ता। पीने के बाद अपनी अलमारी में रख देते, ताकि गफलत में दूसरों के हाथ न लगे। वे दलित नहीं थे, मलेच्छ तो थे ही। ये मांस-मछली खाने वाले लोग लोटे-गिलास को मुंह लगाकर पानी पीते हैं, इसलिए इनके साथ ज्यादा घालमेल अच्छा नहीं मांस-मछली की बात पर सलीम भाई अड़ जाते अरे भाई। मांस-मछली तो कुछ शाकाहारियों को छोड़कर सभी खाते हैं, उनसे तो परहेज नहीं, हमीं से क्यूं? इस क्यूं का जवाब परहेज करने वालों के पास नहीं होता था ज्यादा बाजपुरस करने पर रटा-रटाया जवाब दोहराया जाता कि मुसलमान गंदे होते हैं।

सलीम भाई देखते थे जब कोई टोपी, दाढ़ी या तहमद वाला अपने किसी काम से उनके दफ्तर में आता था, तो अकसर लोग उनको नजरअंदाज कर देते थे। जब वे आजिजी करने लगते, तो बाबुआना बहानों से उन्हें टरकाने की कोशिश करते थे और मामूली-मामूली कामों के लिए भी कई-कई

चक्कर लगवाते थे। ऐसे वक्तों में सलीम भाई की सिफारिश ही अकसर काम आती थी। उन लोगों की बहानेबाजी से कुढ़कर सलीम भाई उनसे उलझ पड़ते, पर उनको अपने रवैये पर न तो शर्मिंदगी होती और न अपने बहानों को गलत तसव्वुर करते। उल्टा सलीम भाई पर बिगड़ते कि मियां अपने काम से काम रखो, हमसे मत उलझो। सलीम भाई सब्र का घूंट पीकर रह जाते वे कर भी क्या सकते थे? 1947 के बाद दिलों में जो फर्क आया, वह बावजूद दस्तूरे-हिंद की गारंटी के अपनी जगह कायम था, बल्कि जड़ें जमा चुका था। खूनी रथ-यात्रा के बाद तो जैसे हर दिल में जहर भर गया था। इनका वश नहीं चलता, वरना इन चौदह-पंद्रह करोड़ गैरों को उधर ही धकेल दें या दरियाबुर्द कर दें। मुल्क के टुकड़े करवा दिए, अब काहे को हमारी छाती पर मूंग दल रहे हैं। प्रशासन हो, पुलिस हो, अस्पताल हो, स्कूल-कॉलेज हों, सभी जगह दुभांत की फांक साफ नजर आने लगी थी। ये एक लावा था, जो अंदर ही अंदर पक रहा था और अकसर दंगे-फसाद की शक्ल में फूट निकलता था। जुर्म कोई करे, गिरफ्तार वे ही होंगे जिनका हाली-वली कोई नहीं।

मुल्क की तमाम जेलें उन लोगों से भरी पड़ी हैं जिनकी ठीक तरह पैरवी करने वाला कोई नहीं। उनमें से तो अकसर बेकुसुर होते हैं और पुलिस उनको आसान शिकार समझकर अपनी खाल बचाने के लिए झूठे मुकद्दमों में जेलों में ठूस देती है। सैंकड़ों नौजवानों की जिंदगी पुलिस की दरिंदगी की वजह से तबाह व बरबाद हो जाती है। उनसे नाकर्दा जुर्म को कबूलवाने के लिए पुलिस किस हद तक टार्चर करती होगी, उसकी खबर कभी मीडिया में नहीं आती, क्योंकि वहां भी ऐसे ही लोग बैठे हैं। इसके बावजूद कहा जाता है कि सब कुछ ठीक-ठाक है। ज्यादा कुरेदो, तो पड़ोसी मुल्कों की ज्यादातियां बखानने लगते हैं। आप कह सकते हैं कि ऐसा सलीम भाई की इकतरफा सोच के कारण हो गया है। जुल्मो-सितम और नाइंसाफियां जात-पात, धर्म-संप्रदाय नहीं देखतीं, एक सिस्टम जो मध्य युग से, बल्कि अंग्रेजों के जमाने से चला आ रहा है, वह हजार एतराजों व सुधारों के बावजूद दायम व कायम है।

सलीम भाई की बेचैनी की एक और वजह भी थी। वे उर्दू के अखबार पढ़ने का शौक रखते हैं। उर्दू के अखबार वे खबरें देते हैं, जो हिंदी, अंग्रेजी, या दूसरी इलाकाई जवानों नहीं दे पाती हैं या देना नहीं चाहती हैं। एक खामोश सेंसरशिप अल्पसंख्यकों की समस्याओं पर लागू है। ये और बात है कि उर्दू अखबारात बाज औकात मुसलमानों के जज्बात को भड़काने का भी काम करती हैं जिस तरह दक्षिणपंथी मीडिया करता है। इस इतिहाससंदी और अफवाही खबरों से आग इधर भी लगती है और उधर भी। ऐसे में अमनपंसद आम इनसान कहां जाए और किस पर भरोसा करें?

उम्र बढ़ने के साथ सलीम भाई के दिलो-दिमाग पर मुस्लिम मुखालिफ माहौल से बुरा असर पड़ता जा रहा था। वे बड़ी तेजी से दिमागी मरीज बनते जा रहे थे। वे ये बखूबी जानते थे कि उनके हाथ में कुछ नहीं है। आन की आन में हालात किस कदर बदल जाएंगे, कोई नहीं जान सकता। सिर्फ जाती तौर पर फिक्रमंद होने से सूरत नहीं बदलती है। इनसान को ही बदलते हालात के मुताबिक खुद को ढालना पड़ता है।

आप जानते हैं, जब किसी शख्स का जेहन किसी शै से मुतास्सिर होता है, तो वह किसी बहलावे से नहीं बहलता है। इसीलिए सलीम भाई हर वक्त शक व शुब्हों में घिरे रहते। अकसर वे खुदा का शुक्र अदा करते कि उनके खानदान में कोई ऐसा मस्अला पैदा नहीं हुआ जिसकी वजह

से वे पुलिस के हथ्थे चढ़ते और सुबूत के तौर पर अपना जाती तज़िबा बयान करते ।

सलीम भाई का एक मस्अला ये भी था कि जिस बात की वे शंका करने लगते या खैरियत के लिए खुदा का शुक्र अदा करते, तो वे किसी न किसी परेशानी में गिरफ्तार हो जाते । अगर अचानक उनके ख्याल में क़ब्रिस्तान आ जाता, तो उन्हें अगले दो-चार रोज़ में जरूर क़ब्रिस्तान जाना पड़ता । अस्पताल का ध्यान आता, तो किसी न किसी को देखने के लिए अस्पताल के चक्कर लगाने पड़ते । गोया उनका ख्याल ही उन्हें भटकाने लगा । इसे इल्हाम तो नहीं कह सकते कि वे पैगंबरों से मंसूब है, पर उनके स्वभाव में कुछ ऐसा था कि उन्हें होने वाले वाकिए का ख्याल अचानक जेहन में आ जाता चाहे वह एकसीडेंट ही क्यों न हो । वे बुरा सोचने से अकसर बचना चाहते, पर ख्याल तो ख्याल है इस पर इनसान का बस कहां? उनका ये सोचना ही मुसीबत का बाइस बन गया कि वे ऐसे अनुभवों से नहीं गुजरे जिनमें पुलिस एक खास सोच से मुआमले को निबटाती है जिसमें अमूमन मुसलमानों व कमजोरों के साथ अकसर अन्याय होता है ।

रशीद के मुआमले में ये भी नहीं कह सकते कि सीआईडी ने उसे जानबूझकर फंसाया । कानून तो कानून है, नियमों का पालन तो करना ही चाहिए । आप पूछेंगे, रशीद कौन? रशीद सलीम भाई का भानजा था, जो पाकिस्तान से अपनी मां के साथ आया था । सलीम भाई की अपनी हैसियत तो मामूली थी, लेकिन उनका भानजा करोड़पति घराने का था । हैदराबाद में बहनोई का बड़ा कारोबार था । वे सियासत में भी दखल रखते थे । बहन-बहनोई ने शुरू मुहाजिरी में गरीबी के दिन काटे थे लेकिन उनकी औलाद बड़ी हुई, तब तक अमीरी उनकी चौखट तक आ चुकी थी । अमीर और रुतबे वाले खानदान के बच्चों में जो लापरवाही, खिलंदड़ापन और दौलत की खुमारी होती है, वही रशीद में थी । तफरीह के लिए निकले, तो ये न सोचा कि हर शहर में पहुंच व रवानगी का इंद्राज कराना निहायत जरूरी है और सिर्फ उन्हीं मकामों पर जा सकते हैं, जहां का वीजा मिला है ।

रशीद साहब ने अहमदाबाद के लिए एंट्री करवाई । कुछ दिन वहां रहकर मुंबई पहुंच गए । भारत में आए हैं, तो कराचीनुमा मुंबई की सैर जरूरी ठहरी । अहमदाबाद से मुंबई की रवानगी करवाई नहीं, और पहुंच गए सीधे मुंबई से मामू के शहर । उनको मालूम नहीं था कि ये उनका मुल्क नहीं है, जहां उनकी अमीरी और सिफारिशें आड़े वक्तों में काम आती हैं । यहां एक बार गलती से या धोखे से चिड़िया जाल में फंसी नहीं कि उसके आजाद उड़ने के ख्याब फुर्र हो जाते हैं । पांचवें दशक में जिन लीडराने-वतन ने अपनी गोटियां खेली थीं, उसका खम्याजा बेगुनाह, बेकुसूर और मासूम नागरिकों को भुगताना ही था । हां, अगर आप अमेरिका से आते, तो आपको सर आंखों पे बैठाते । वहां से दहशतगर्द भी आ जाएं, तो उन्हें कोई नहीं पूछता और पड़ोसी मुल्कों के शरीफ शहरी भी आ जाएं, तो जेल के कैदियों की तरह उनकी हाजिरी होती है ।

सलीम भाई की निगाह में रशीद की ये हरकत महज लौंडापन थी, मगर पासपोर्ट अधिनियम के तहत संगीन जुर्म । अगर आपके तार दहशतगर्द तंजीम से जुड़े हों और आप कोई संगीन वारदात करने वाले हों, तो आपको कोई नहीं बचा सकता । फिर कानून अपना काम करेगा और हमारा कानून चिउंटियों की चाल चलता है हमें किसी की परेशानियों, बेवकूफियों, जब्बात ओर इज्जत-आबरू से क्या लेना-देना? आ जाओ पिंजरे में ।

रशीद मशकूक दहशतगर्द ठहरा और सलीम भाई बरसों से जिन आशंकाओं को पाल रहे थे,

वे उनकी अपनी जिंदगी में अंधड़ बनकर आ गई। बी.पी. शुगर और दिल की मरीज रशीद की मां पर बार-बार बेहोशी के दौर पड़ने लगे। होश में आती, तो हाय-तौबा करने लगती-अब मैं वहां क्या मुंह दिखाऊंगी? बरसों बाद भाई से मिलने मायके गई थी और बेटे को गंवा आई। हाय अल्लाह। मैं क्या करूं? तीन दिन बचे हैं, ये मुए छोड़ते क्यों नहीं मेरे बेटे को?

रशीद की मां की भोली पुकार सीआईडी अफसरों को सुनाई कहां पड़नी थी। पूछताछ का लंबा सिलसिला चल निकला। सलीम भाई दफ्तर से छुट्टियां लेकर रोज कचहरी परिसर जाने लगे। बहन की हालत देखी न जाती थी और रशीद इस तरह बेफिक्र नजर आ रहा था, जैसे कुछ हुआ ही न हो। हालांकि डॉक्टर के निशान उसके चेहरे पर नुमायां थे। सलीम भाई जान चुके थे कि परिंदा जाल में फंस चुका है। वे पूरी ताकत लगा देंगे, नामी वकील करेंगे और रशीद को खैरियत से रवाना कर देंगे।

मगर ये उनकी खाम ख्याली साबित हुई, उन्होंने बहन का वीजा बढ़वाना चाहा, लेकिन वीजा नहीं बढ़ा। बहन रोती-बिसूरती अपने मुल्क सिंधार गई। सलीम मियां साइकिक तो पहले ही थे अब उनके जेहन ने काम करना बंद कर दिया। रशीद सलाखों के पीछे पहुंच चुका था और खुद सलीम भाई? खैरियत मानते, खुदा का शुक्र अदा करते-करते आठवें दिन धर लिए गए उनका जुर्म?... दहशतगर्द को पनाह देना कोई छोटा जुर्म है कानून की निगाह में? वे कुर्सियों, मेजों के बीच धूल भरे फर्श पर बेजबान जानवर की तरह बैठे हुए थे कि उनका एक परिचित अपने किसी रिश्तेदार की आमद दर्ज करवाने आया था। सलीम भाई को ऐसी हालत में देखकर पूछ बैठा, 'सलीम भाई, यहां कहां? यूं कैसे?'

सलीम भाई टुकुर-टुकुर परिचित को देखते रहे। जरा देर बाद रुंधे गले से बोले, 'मुलजिम हूं भाई, मेहमान को घर में ठहराने की सजा मिल रही है। ये अपना वतन है साहिब। हजारों बेगुनाहों का खून बहाने वाले की यहां वाहवाही और ताजपोशी होती है और अपने खून को घर में ठहराने वाले को जेलें मिलती हैं।'

परिचित कुछ बोलता, उससे पेश्तर पास खड़े, खैनी मलते हुए एक हेड कांस्टेबल ने घुड़का, 'मियां। ज्यादा न उड़ो। यहां हो इब्तिदा है, आगे-आगे देखिए, होता है क्या? हमारे यहां सूखे-गीले सभी को जलना पड़ता है, बेकसूर हो तो छूट जाओगे।'

'और जो हम पे गुजरेगी।' सलीम भाई ने कहना चाहा, मगर लफज होंठों पर आकर रह गए.

बकौल हेड कांस्टेबल, ये वाकई इब्तिदा थी। आगे की कहानी पाठकों पर छोड़ी जाती है कि वे खुद समझदार हैं। अलबत्ता इतना बताना जरूरी है कि सलीम भाई अब बाकाइदा 'केस' बन चुके थे अब उनकी एक टांग जेल में रहती थी, दूसरी मेंटल हॉस्पिटल में और दोनों पांव अदालत के कठघरे में। वे फूट-फूटकर रोने लगते थे। तब उन्हें कहीं से आवाज सुनाई देती थी या कान बजने लगते थे 'इब्तिदाएं इश्क है रोता है क्या...।'

वे चौंककर सर उठाते तो सामने रशीद को खड़ा पाते शार्मिदा-शार्मिदा- 'सॉरी मामूं। मेरी वजह से...।' और वे भानजे के सीने पर सर पटकने लगते।

(लेखक सुपरिचित कथाकार और 'शेष' पत्रिका के संपादक हैं)

तुरुक से तुर्की तक

दीपक मलिक

‘तुरुक कहे रहिमाना’ कबीर साहब की भाषा में- साधु के अनियमित शब्दकोश में मुसलमानों को तुरुक के रूप में चिह्नित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी। कबीर साहब को दिल्ली सल्तनत से कुछ लेना देना नहीं था हालांकि तुगलक वंश जिसका शासन उस वक्त था वे तुर्की मूल के थे। पर कबीर साहब संभवतः तराई में बसे ओधुए तुरुकों को तुरुक पुकारते हैं जो मुहम्मद गौरी के सेना के साथ भारत आए गए थे। संभवतः मगहर की बस्ती में यही शब्द प्रचलित रहा होगा मुसलमानों के लिए।

तुर्की का इतिहास भारत से कभी-कभी गहराई से और कभी-कभी महज औपचारिक तर्ज पर जुड़ा रहा है। 1920 में मुस्तफा कमाल पाशा के राज्यसत्ता पर काबिज होने के बाद तुर्की और भारत का रिश्ता विस्मृति के गर्भ में चला गया। 20 के दशक तक एक भारतीय मुस्लिम को तुर्की फेज टोपी से ही पहचाना जाता था। तुर्की के सुल्तान महज आटोमन साम्राज्य के सम्राट ही नहीं थे वे सन् 1517 से अंतरराष्ट्रीय मुस्लिम संप्रदाय (उम्मा) के खलीफा भी थे।

सल्तनत काल में और फिर मुगलों के जमाने में तुर्की का खलिफाई दर्जा बदस्तूर काबिज था। मुगल अपने को चागाताई तुर्क कहते थे। भारत से तुर्की का यह रिश्ता कमोवेश 20 के दशक के मध्य तक बना रहा है। खिलाफत आंदोलन को राष्ट्रीय आजादी के आंदोलन में जोड़ने में लगभग असंभव काम महात्मा गांधी ने किया था। तुर्की के आटोमन सम्राट और मुस्लिम उम्मा के खलीफा दर्जा को ब्रिटिश हूकूमत द्वारा क्रमशः कमजोर बनाने के खिलाफ एक मुस्लिम दीनी आंदोलन को महात्मा गांधी ने अंग्रेजी राज के खिलाफत में बदल दिया था।

यह दीगर बात है कि तुर्की सेना के एक करिश्माई अफसर मुस्तफा कमला पाशा ने तुर्की की आटोमन बाशशाही को न केवल जर्मीदोज ही किया बल्कि उसके साथ ही साथ पूरे इस्लामी दुनिया में खलीफाशाही को भी सदा के लिए समाप्त कर दिया। इस्लामी मुल्कों की दुनिया में कमाल आतातुर्की इनकलाब एक घटना थी जिसने तुर्की की पूरी शकल को बदल दिया। तुर्की धर्मनिरपेक्षता की तुलना में भारतीय संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता महज शैशवकालीन है। 30 अगस्त 1925 में एक फैसलाकुन तकरीर में मुस्तफा कमाल आतातुर्क ने पेशकश की। ‘आज की तारीख में, विद्वान और जाग्रत आधुनिक सभ्यता के माहौल में तुर्की का सभ्य समाज कुछ शेखों और उनके शिष्य मंडलियों का देश नहीं बनने दिया जाएगा।’

इस घोषणा के 3 दिन पश्चात कमाल पाशा की सरकार ने तुर्की में सभी सूफी दरवेशों, मुस्लिम

धार्मिक गुरुओं और उनके ठेकों को बंद कर दिया। दरवेशों द्वारा संचालित मठों को तत्काल अजायबघर में परिवर्तित कर दिया गया। 1928 में कमाल आतातुर्क ने फारसी लिपि की जगह रोमन हरफ की पेशकश की। भाषा के अध्यापकों से कमाल आतातुर्क ने पूछा रोमन लिपि में परिवर्तन के लिए कितना समय लगेगा? उन्होंने कहा 3 से 5 साल तक। कमाल पाशा ने कहा रोमन लिपि में परिवर्तन के लिए वे ज्यादा से ज्यादा केवल 2 से 3 महीना देंगे। कमाल आतातुर्क ने बहुविवाह तथा पर्दा प्रथा पर रोक तत्काल लागू कर दिया और साथ ही साथ स्त्री शिक्षा को कानूनी शक्ति दे दिया। इतने त्वरित गति से परिवर्तन संभवतः 1917 में रूस में अक्टूबर क्रांति के बाद आई हो पर इस्लामी और तीसरी दुनिया के देशों के लिए तो यह नायाब घटना थी। कुरानशरीफ की आयतें अरबी में ही पढ़ी जाती थी पर कमाल पाशा ने तत्काल उसका पाठ तुर्की भाषा में हो उसकी राजकीय हिदायत दे दी।

तुर्की रातों-रात एक आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र की तर्ज पर पुर्नगठित हो गया। कमाल पाशा को संसद और जनता ने 'आतातुर्क' (तुर्कियों के पिता) का खिताब दिया। मेरी इस्तानबुल यात्रा का उद्देश्य इस्तानबुल में स्वीडिश इंस्टीट्यूट की 50वीं वर्षगांठ के सिलसिले में एक विचारगोष्ठी के कारण हो पाई। इस्तानबुल शहर यूरोपीय और एशियाई हिस्सों में बंटा हुआ है। यूरोप के लिए यदि शेंगेन वीजा आपके पास है तो तुर्की 'ऑन अराईवल' हवाई अड्डे पर पहुंचने पर टूरिस्ट वीजा दे देते हैं। बशर्ते कि आपकी शहर में होटल बुकिंग और कम से कम 200 तुर्की लीरा पाकेट में हो। प्लास्टिक कार्डों के युग में अब जांच में यह भी नहीं पूछते हैं कि कितना धन है आपके पास।

इस्तानबुल पहुंचे 2 शाम हो गई थी। मैं इस्तानबुल के दूसरे हवाई अड्डे पर उतरा था जहां लगता था कि निजी एयरलाईन पेगाशस (पर लगा हुआ ग्रीक मिथक का घोड़ा) हवाई सेवा के हवाई जहाज उतरते थे। यह मुख्य एयरपोर्ट कमाल आतातुर्क की अपेक्षा काली छोरा था। लौटते वक्त टार्किश एयरलाईन से लौटा जो लगता था कि विश्व के सभी महत्वपूर्ण देशों और शहरों को जाती थी। इस्तानबुल और किसी भी यूरोपीय शहर में कोई फरक नहीं था फिर भी सड़कों पर लोगों के व्यवहार में पूरब की गर्मजोशी जो दिखलाई पड़ती थी। दूसरे दिन टैक्सी ड्राइवर जो तुर्की छोड़कर और कोई दूसरी भाषा नहीं समझता था उससे बड़े गर्व के साथ कहा कि इस्तानबुल यूरोप का सबसे बड़ा शहर है। संभवतः हो भी।

सुल्तान अहमद (अहमद) नाम के विस्तृत यूरोपीय इलाके के एक होटल में ठहरा। होटलों और रेस्टोरेंटों की भरमार थी। तुर्की अपनी मिठाइयों के लिए भी मशहूर है। एक बड़ी मिठाई की दुकान बड़े चौराहे पर थी जहां तुर्की मिठाइयां जिन्हें वे बकलावा कहते हैं वह लगभग सन् 1860 से बिक रही थी। इसी चौराहे के पार समुद्र और तट पर एक भव्य इमारत थी जो एक जमाने में ओरियेंट एक्सप्रेस (यूरोप से एशिया की ओर जाने वाली रेलगाड़ी) का आखिरी स्टेशन हुआ करता था। यहां एक शाम सूफी परंपरा में दरवेशों का नृत्य भी देखा। चेतनाविस्मृत होकर यह नृत्य तुर्की दरवेश (सन्यासी) जो सफेद कपड़े पहनते थे वे करते थे। अध्यात्म से जुड़ी आत्मविभोर यह नृत्य परंपरा भारत में भी रही है। बंगाल, उड़ीसा के इलाकों में श्री चैतन्य भी आत्मविभोर होकर कृष्ण के नाम पर नृत्य करते हुए अपनी शिष्य मंडली के साथ निकलते थे। आज वही परंपरा कृष्ण चैतन्य सोसाइटी (इस्कॉन) जिसके अधिकांश सदस्य यूरोपीय या अमेरिकी है, अपनाए हुए हैं। जगन्नाथ रथयात्रा के

आयोजन में यह मंडली उस मध्ययुगीय आत्मविभोर नृत्य को करती हैं जिसकी शुरुआत महाप्रभु चैतन्य ने की थी।

मेरी जिज्ञासा आधुनिक तुर्की और धर्मनिरपेक्षता के हुए नायाब उदाहरण से ज्यादा जुड़ी हुई थी। कमाल आतातुर्क ने 30 के दशकों तक तुर्की को झकझोर कर एक आधुनिक राष्ट्र में बदल दिया था। पर इस राज्य के मूल में तुर्की केंद्रीयकरण की प्रक्रिया मुख्य थी। तुर्की का मौजूदा राजनैतिक नेतृत्व केंद्रीयकरण के फलस्वरूप उभरी इलाकाई और जनजातियों के विद्रोह से जूझ रहा है उस विद्रोह में एक सबसे खतरनाक बिंदु 'कुर्दिश विद्रोह' भी है। कुर्दिश वस्तुतः तुर्की के आदिवासी हैं, जो तुर्की की सीमावर्ती इलाकों में खास तौर पर पूर्वी इलाके में रहते हैं उनकी बस्तियां आगे इराक और ईरान तक फैली हुई हैं। लगभग 70% कुर्दिश इस्लाम धर्म दीक्षित हैं पर 30% गैर इस्लामी भी हैं। कुर्दिश समस्या तुर्की, इराक, ईरान के लिए बड़ी नासूर साबित हो रही है।

इस्तानबुल में मेरी मुलाकात एक ऐसे विश्वविद्यालयी अध्यापिका से हुई जिन्होंने 'कुर्दिश समस्या' पर सहानुभूतिपूर्वक अपना शोध स्वीडेन के लुंड विश्वविद्यालय से किया था चूंकि तुर्की में उन्हें इस समस्या पर शोध करने की इजाजत नहीं मिली थी। आगे चलकर तुर्की लौटने पर उन्हें अध्यापकी और अपने शोध डिग्री दोनों से हाथ धोना पड़ा। साथ ही साथ उनकी कुर्दिश अध्यापिका, जो संभवतः एक वक्त में उनकी शोध अधिकर्ता थी उन्हें 6 महीनों से कुर्दिश प्रश्नों पर इनकलाबी भाषणों की वजह से गिरफ्तार कर लिया गया है। मेरे पूछने पर नेजरीन ने कहा कि वे अपनी अध्यापिका से हर शुक्रवार (जुम्मा) के दिन मिलने जाती हैं। एक ओर अत्यंत आधुनिक राष्ट्र है तो दूसरी ओर जनतांत्रिक अधिकारों पर अदृश्य हाथों का पहरा। संभवतः अतिरिक्त केंद्रीयकरण जो आधुनिकता को एकमुश्त लाने के लिए बेहद मजबूत हथियार होती है वह कालांतर में रोड़ा बन जा सकती है। शायद ऐसा ही कुछ हो रहा है अभी। खास तौर पर इस्लामी राजनैतिक दल एकेपी के पिछले लगभग 7-8 वर्षों से शासन पर काबिज होने के बाद कुर्दिश समस्या और भी जटिल हुई है।

नेजरीन ने आगे बताया कि आतातुर्की इनकलाब के बाद धार्मिक मदरसे तो राज्य के आदेश से बंद कर दिए गए पर वह अब नौकरी से निकाले जाने के पश्चात नए किस्म के धर्मनिरपेक्ष मदरसा जहां इस्लामी धर्मशास्त्र की जगह आधुनिक नाट्यशास्त्र और सिनेमाटोग्राफी पढ़ाई जाती है उसकी सक्रिय सदस्य हैं। अब वह कुलवक्ती फिल्म नायिका के रूप में काम कर रही हैं।

आतातुर्की विचारधारा जिसे 'केमालिस्म' के नाम से पुकारा जाता है उसके अतिउत्साही आधुनिकीकरण के दौर में इस्लामी मतदाताओं पर रोक लगा दी गई थी। फिर भी धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपने स्कूल चलाने की छूट थी। केमालिस्म के आधार पर ही आधुनिक तुर्की राज्य का निर्माण हुआ है। पर अब उस केंद्रीयकृत राज्य यंत्र पर एक हद तक इस्लामी पार्टी जो तुर्की में अंतर्निहित आधुनिकीकरण और इस्लामी पुनरुत्थानवाद के बीच अपने रास्ते को तलाश कर रही है, उसका वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। कुर्दिश प्रश्न पर तुर्की की सभी दलों ने एक एमएचपी दल जो उग्र राष्ट्रवादी दल है कि सिवाय सभी ने एक सर्वसम्मत हल की इच्छा जाहिर की है। विरोधी पुराने केमालिस्ट दल सीएचपी ने कुर्दिश प्रश्न को हल करने के लिए 10 सूत्रीय फार्मूला पेश किया है जिसका कुर्दिश संसदीय दल वीडपी भी समर्थन करती है। पर कुर्दिश प्रश्न को हल करने के लिए तुर्की में श्रीलंका में लिट्टे के तर्ज पर एक कुर्दिश वर्कर्स पार्टी बनाई गई है, जो आंशिक माओवादी

और आंशिक लिट्टे (श्रीलंका के तमिल टाइगर्स) के तर्ज पर बनी हुई इनकलाबी पार्टी है, जो तुर्की राज्य व्यवस्था के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह का झंडा उठाए हुए है। लगता है कि तुर्की के उस सबसे बड़े संख्या लघु संप्रदाय जो एथनिक और भाषाई तर्ज पर तुर्कियों से अलग है और जिनकी जनसंख्या कुल तुर्की की जनसंख्या का लगभग 15 से 20 % है उनका मामला सुलझाना पड़ेगा अन्यथा कुर्दिश विद्रोह एक भयानक शकल हो सकती है।

तुर्की के धर्मनिरपेक्षता के अलंबरदार संरक्षक सेना के जनरल हैं। सेना, न कि राजनैतिक दल धर्मनिरपेक्षता के अर्हनिश प्रहरी हैं। तुर्की की न्यायपालिका भी धर्मनिरपेक्ष है। स्वाभाविक है कि एकेपी के इस्लामी पुनरुत्थानवादी कदमों से सेना के जनरलों से टकराहट हो जाती है। सेना के 40 उच्च पदस्थीय जनरल आज जेल में हैं। ओरहान पामुक जैसे साहित्य के नोबल पुरस्कार विजेता को भी तुर्की छोड़कर अमेरिका जाना पड़ा है। पामुक ने आटोमन साम्राज्य द्वारा लाखों आर्मेनियनों की हत्या और एकेपी के इस्लामी पुनरुत्थानवाद पर प्रश्न उठाया था।

हाल ही में प्रधानमंत्री एरडोगन द्वारा स्त्रियों के गर्भपतन (भ्रूणहत्या) के प्रश्न पर तुर्की में इस्लामी पुनरुत्थानवादियों के खिलाफ शहरी जनता का प्रतिवाद अपने पूरे सबाब में था। इस्तानबुल के एशियाई हिस्से कोडाईकल के बंदरगाह पर पश्चिमी छोर से फेरी स्टीमर से उतरने पर औरतों को हजारों की संख्या में विरोध सभा के बीच से गुजरना पड़ा जिससे लगा कि तुर्की में आधुनिक धर्मनिरपेक्ष राज्य की मान्यताओं को तोड़ना ही टेढ़ी खीर साबित हो। तुर्की और इस्तानबुल बुद्धिजीवियों से विभिन्न मुलाकातों से मैं समझ पाया कि स्त्रियों के गर्भपतन अधिकार समाप्त करने का प्रधानमंत्री एरडोगन का वक्तव्य महज स्त्री विरोधी कदम के रूप में नहीं लिया जा रहा है बल्कि उसे तुर्की जनता के बुनियादी आधुनिक अधिकारों पर हमले के रूप में लिया जा रहा है। दरअसल इसे जनतंत्र विरोधी कदम माना जा रहा है। साथ ही एकेपी ने प्रजातांत्रिक व्यवस्था की जगह पर राष्ट्रपति शासन व्यवस्था के लिए संविधान में परिवर्तन की भी पेशकश शुरू कर दी है। इन तीनों कदमों को तुर्की का जाग्रत मध्यवर्ग और बुद्धिजीवी विश्व के अकेले मुस्लिम धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र को तोड़ने की साजिश के रूप में ले रहा है। इस प्रश्न पर पुरानी केमलिस्ट पार्टी से लेकर यूरोप, अमेरिका परस्त आधुनिक मध्यवर्ग और तुर्की के मार्क्सवादी तक इकट्ठा खड़े हुए हैं।

बासफोरस की खाड़ी, कैस्पियन सागर का नीला पानी और रूस की ओर से ढलता हुआ ब्लैक सी इस यूरोप और एशिया के संगमस्थल को एक बहुरंगी नृत्य नाटिका में बदल देता है जिसमें आला सोफिया की मस्जिद और नाजिम हिकमत केंद्र की शांतिनिकेतनी तर्ज पर बनी रेस्टूरेंट सभी शामिल हो जाते हैं पूरब और पश्चिम के मिलने के एक कारवां में।

संभवतः संयुक्त राष्ट्र अमेरिका एरडोगन तुर्की में इस्लामी पुनरुत्थान पर आपत्ति इसलिए नहीं उठती है चूंकि 9/11 के बाद उठते हुए तालिबानी इस्लाम से उसे जूझना है, और एरडोगन का तुर्की इस्लाम का अपेक्षाकृत उदार चेहरा जो एक हद तक आतातुर्क इनकलाब के कारण मजबूरी में बना है, वह ऐसे वक्त में पूरे मध्य एशिया से लेकर नए मुस्लिम मुल्लों के कतार में उपयोगी कारगर होगा।

शहर इस्तानबुल के एशियाई हिस्से में एक दोपहर मैंने नाजिम हिकमत जो तुर्की के इनकलाबी कवियों में अग्रणी हैं उनके नाम पर बने हुए केंद्र में बिताई। केंद्र के आसपास लगभग एक बीघे जमीन पर पेड़ों की छाया में तुर्की चाय की चुस्की लेते हुए आस-पास की भीड़ की तरफ देख रहा

था कि वे सभी कहीं न कहीं इस्तानबुल के कवि-लेखकों और चित्रकारों की जमात से थे जो आज की तुर्की में अपनी लंबी लड़ाई हार रहे थे। पर शाम को उसी रेस्तरां में चाय पीते हुए वामपंथी चिंतक रिसेप से जब मैंने प्रश्न किया कि क्या तुर्की धर्मनिरपेक्षता की लंबी लड़ाई हार जाएगी। उन्होंने कहा कि आधुनिकीकरण और धर्मनिरपेक्षता की जड़ें काफी मजबूत हैं, और एरडोगन की तमाम कोशिशों के बाद भी धर्मनिरपेक्षता की दीवार पूरी तरह से टूट नहीं जाएगी, इस जवाब ने मुझे काफी आश्वस्त किया, लौटते वक्त स्टीमर से उतरकर मैं सुलेमानी मस्जिद के नीचे लगभग एक घंटा समुद्र की हवाओं के झोंकों में बैठा रहा, उसी बीच मस्जिद से सुरीली ध्वनि में रात्रि नमाज भी हो गई। इस्तानबुल की व्यस्त सड़कों पर रात के गहरे होने के साथ-साथ कारों का काफिला भी बढ़ता जा रहा था आज शुक्रवार था। कल से छुट्टी, वही यूरोपीय वीकएंड पर साथ ही इबादत भी।



(लेखक सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक हैं)

‘रुस्वा’ की यादों में तवारीख का एक अहम पन्ना

सुधीर विद्यार्थी

बेनीमाधव रुस्वा का नाम तो मैंने सुना था पर उनके बारे में जानता कुछ भी न था। 1999 की बात है जब एकाएक उनका एक ‘यादे-माजी’ हाथ आया तब पता लगा कि सत्तावनी क्रांति के उन दिनों में जब मौलवी अहमदउल्ला शाह पुवायां में कल्ल किए गए, वे शाहजहांपुर के निकट रोजा में मुकीम थे। ‘गालिब अफसाना’ नाम के इस यादनामा के संबंध में हसन जमाल का कहना था कि अभी ये राज पोशीदा है कि ‘गालिब अफसाना’ का खालिक कौन है। आया खुद बेनीमाधव रुस्वा या आज कोई नामवर अदीब। वे यह भी शंका करते हैं कि कह नहीं सकते, ये हकीकत है या महज अफसाना है। पर मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि इसमें यादों के असली यानी हूबहू टुकड़े ही जोड़े गए हैं और इसके लिखने वाले रुस्वा ही हैं। यह मैं इसलिए भी जोर देकर कह रहा हूं क्योंकि उनके लफ्जों में सत्तावनी क्रांति के शहीद मौलवी अहमदउल्ला शाह की शहादत और उसके बाद अगले ही रोज की जो तस्वीर हमें मिलती है, वह उस तवारीख से हूबहू मेल खाती है। इसलिए इसे महज अफसाना मानने का कोई तुक नहीं है। यह यादों को तरतीब देते हुए लिखा गया है जिसके चश्मदीद गवाह खुद रुस्वा ही हैं। रुस्वा वह सब तो नहीं लिख पाए होंगे जो उन पर गुजरी या जिन मंजूरों को उन्होंने अपनी आंखों से देखा, पर सत्तावनी क्रांति के दौर की वह खूनी तस्वीर उस सब को भी बयान कर देती है जो वहां शब्दों के बीच छिपा हुआ है.....

तो पहले हम यह जान लें कि बेनीमाधव रुस्वा थे कौन। खुद कहते हैं वे कि मैं नसलन राजपूत, पैदाइश निजामाबाद, जिला आजमगढ़ का हूं। आजम शाह ने आला हजरत महाबली के वक्तों में शहर आजमगढ़ आबाद किया तो मेरे पुरखे पंजाब से उठकर यहां आ बसे। हम लोग चंद्रवंशी राजपूत हैं। जंग-भिड़ंत के इलावा इल्म ओ हुनर भी हमारे घराने की पहचान रहा है। ससाहिबे-किआन सानी के दौर में हमारे खानदान में जमीन-जायदाद के झगड़े उठे, तो हमारे एक बुजुर्ग नाराज होकर अलग हो गए और बाद में उन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया। उनके वंशज भी मुसलमान रहे। मेरे बाप-दादा अपने पुराने धर्म पर कायम रहे और मैं भी ईश्वर की कृपा से इसी पर कायम हूं। अपने मुसलमान भाइयों से हमारा रिश्ता आहिस्ता-आहिस्ता फिर जुड़ा तो मिलना-जुलना, रीत-रस्म यहां तक कि एकाध बार तो शादी-ब्याह के भी संबंध बन गए। ऐसे मौकों पर तलवार तक चलने की नौबत आ गई, लेकिन फिर सब बराबर हो गया।

तो इस पृष्ठभूमि से आए थे रुस्वा। वे 1940 में पैदा हुए। मां-बाप की इकलौती संतान। दस्तूर के मुताबिक उन्हें हथियार-साजी के साथ कलम का भी हुनर सिखाया गया। फिर घर पर ही फारसी,

अरबी और गणित सीख डाली। इसके बाद मौलाना फारूक चिरियाकोटी के एक शागिर्द के मदरसे में बाकायदा तालीम के लिए बैठा दिए गए। 1937 में आजमगढ़ में कुछ पादरियों ने एक स्कूल खोला था- वैजली स्कूल के नाम से। रुस्वा के पिता के एक दोस्त जो कंपनी बहादुर में नौकरी कर चुके थे, कहा कि बेनीमाधव को अंग्रेजी पढ़ाओ। इसलिए वे दस वर्ष के थे तभी उस स्कूल में उन्हें भेज दिया गया। यहां ईसाइयत की भी शिक्षा दी जाती। सो पिता को ताने मिलने लगे कि तुम बच्चे को भ्रष्ट किए दे रहे हो। छठी जमात के बाद वे निकल आए उस स्कूल से। अब फिर से वही मदरसा और वैसा ही बाहरी माहौल। वे निजामाबाद से आजमगढ़ चार कोस पैदल आते-जाते।

पर उन्हें तो शायर बनने की धुन थी। एक रोज पिता ने शेर गुनगुनाते देख लिया। डांट पड़ी और दादाजान से शिकायत हो गई जो बेनीमाधव से बड़ी मोहब्बत करते थे। दादा बोले--‘तो क्या हुआ? शरीफों के कामों में एक काम ये भी है। इसे कुछ न कहो। हमारी एक ही तो औलाद है।’

बहुत साफगोई से रुस्वा बताते हैं कि दो-तीन साल आराम से गुजरे। कुछ पढ़ने-पढ़ाने और शेर कहने में और कुछ तीर-तलवार चलाने में। दादाजान बहुत बूढ़े हो चुके थे और पिता के यहां भी अब किसी दूसरी औलाद की उम्मीद न थी। आम राजपूतों की तरह हमारे घराने में ज्यादा बीवियां रखने का तरीका बिल्कुल न था। हां, चोरी-छिपे या ऐलानिया इश्क करने की बात और थी। लिहाजा मैं तन्हा औलाद रहकर जिया।

रुस्वा उपनाम कैसे धरा, इस बारे में उन्हीं का खुलासा देखिए-‘एक दिन दादाजान को मालूम हुआ कि खान अल्लामा के दादा उस्ताद मुल्ला साबिक बनारसी के एक पोते खादिम हुसैन नाजिम हमारे कस्बे के पास ही तहसील के सद्र मुकाम मुहम्मदाबाद कोहना में मुंसिफ होकर आए हैं। दादा ने फरमाया कि उस्ताद के बगैर शायर नहीं बना जाता। चलो, तुम्हें मौलवी का शागिर्द बनवा दूं। हम अपने-अपने घोड़ों पर सवार होकर अव्वल वक्त पहुंचे। खान अल्लामा के हवाले से इत्तिला करवाई। मौलवी साहब खुद बाहर आकर हम लोगों को अपने दीवानखाने में लाए। इत्र-पान से खातिर की। मौलवी साहिब मुगल तर्ज की चौकोर टोपी और नए तर्ज का लंबा चौगा पहने हुए थे। पांव में सलीमशाही जूती, गले में मलमल का लंबा कुर्ता, हाथ में तस्बीह। मैं दिल में बहुत डरा हुआ था, लेकिन उनको देखकर एकतरफा सुकून हुआ। गुलाबी जाड़े थे, दीवानखाने में हल्की-हल्की खुशबू फैली हुई थी। दादा ने मुद्दआ बयान किया तो मौलवी साहिब ने फरमाया, ‘मियां, तखल्लुस क्या करते हो?’ मैंने दबी जबान से अर्ज किया, ‘जी, तखल्लुस का गुनाहगार अभी नहीं हुआ।’ मौलवी साहिब जरा मुस्कराए, एक लंबी-सी हूं की फिर एक पल चुप रहकर बोले, ‘अच्छा तो मिया बेनीमाधव, तुम हे हे बंस के राजपूत, तलवार के धनी खानदान के चश्मोचराग, शायरी करके अपने घराने के रुस्वा करने पर उतारू हो तो लो हम तुम्हारा तखल्लुस ‘रुस्वा’ तज्वीज करते हैं। दादाजान और मैंने सकजबान होकर कहा, ‘बहुत खूब।’ मौलवी साहिब ने हाथ उठाकर दुआ की, मेरे सर पर हाथ फेरा और कहा, ‘अच्छा अब अपना कोई शेर पढ़ो।’ मेरा तो दम ही निकल गया। कनखियों से दादाजान की तरफ देखा, लेकिन वे तो बिल्कुल बेतअल्लुक से हो गए थे। जबरन कहरन ये मल्ला मैंने फंसी-फंसी आवाज में पढ़ा : हस्ती को हबाब समझिएगा/हर सांस को आब समझिएगा।’ मौलवी साहिब ने फरमाया, ‘खूब! लेकिन समझिए बरवज्ज ‘फाइलुन’ अब अच्छा नहीं लगता। इसे ‘जानिए’ कर दो तो कैसी रहे?’ अभी मैं कुछ कहने ही वाला था कि आपने इर्शाद फरमाया, ‘और मियां साहब,

सांस को आब (पानी) कहने की न कोई दलील है और न दोनों मिश्रों में रब्त ही कायम होता है। इसे यूं कर दें आलम (दुनिया) को आब जानिएगा.....

तो रुस्वा इस तरह मौलवी खादिम हुसैन नाजिम के शागिर्द क्या बने वे मदरसे जाना छोड़कर सारा वक्त शेर ओ शायरी और तीरंदाजी में गुजारने लगे।

अब आया 1856 यानी गदर से पहले का वक्त। उनकी उन्हीं दिनों की यादों में मौलवी अहमदउल्ला शाह की पुवायां में हुई शहादत का जिक्र है जिसे शुरुआत से जानना जरूरी है क्योंकि उसी हौलनाक माहौल में वालिद ने उन्हें किस तरह जबरदस्ती शाहजहांपुर रवाना कर दिया। रुस्वा के ही शब्दों में--‘लेकिन वह साल (1856) मुझ पर कुछ अजीब भारी गुजरा। अवध की सलतनत के उखड़ने का हम लोगों पर सीधा असर ये पड़ा कि कलकत्ते के बड़े लाट साहब के खिलाफ दिलों में गम व गुस्से की लहर दौड़ने लगी। एक अजीब बात ये हुई कि चीजों की कीमतें आप से आप बढ़ने लगीं थीं। जरूरी चीजें भी आम लोगों की पहुंच से बाहर होती जा रही थीं। ऐसा लगता था कि अवध की पैदावार अब पूरबी जिलों से आना बंद हो गयी है। मोटे और बारीक अनाज सब एक भाव होकर रुपए के आठ-नौ सेर बिकने लगे। लोगों में खबर पड़ी कि कंपनी ने अवध और आसपास का सारा माल विलायत भेज दिया।

‘बादशाह जाने-आलम के कलकत्ता पहुंचने के चंद हफ्ते बाद लोगों में खुफिया बातें मशहूर होने लगीं कि न सिर्फ अवध, बल्कि दिल्ली की बादशाहत वापस आने वाली है। कभी-कभी कोई शख्स सरगोशी में ‘चपाती’ नाम की किसी चीज का जिक्र करता तो दरअस्तल खुफिया पैगाम भेजने का एक तरीका था। कभी कोई कहता कि मंडियाओं की छावनी में जो फौज कंपनी बहादुर ने शाहे-अवध को दबाए रखने के लिए तैनात कर रखी थी, अब वह बाकी होने वाली है, या हो गयी है। आर्काट के डंकाशाह का जिक्र 1856 के आखिर में जबानों पर फैलने लगा कि वे जहां जाते हैं, उनके आगे-आगे डंका बजता चलता है कि मुसलमानों के सरदार आ रहे हैं। अपने प्रवचनों में वे (उनका अस्तल नाम बाद में मालूम हुआ कि मौलवी अहमदुल्लाह है) खुले बंदों हिंदू-मुसलमान दोनों को अंग्रेजों के खिलाफ जिहाद व जंग की प्रेरणा देते। उनका कहना था कि अंग्रेजी की हुकूमत अधर्म और झूठ पर टिकी हुई है। ये लोग हिंदू मुसलमान दोनों से उनका मजहब छुड़ाकर उन्हें खुदा से दूर देंगे।

‘ये सनसनी की बातें मेरे नौजवान खून में गर्मी और जोश की लहरें दौड़ा रही थीं। और मैं भी कुछ उल्टे-सीधे ख्वाब देखने लगा था कि मेरे दादाजान का इंतिकाल 1856 के बिल्कुल आखिर में अचानक थोड़ी-सी बीमारी के बाद हो गया। वे छियासी बरस के थे, लेकिन उनकी सेहत हम नौजवानों की सी थी। किसी को अंदेशा न था कि वे इतनी जल्दी छोड़कर चले जाएंगे। बाद के जमाने में मुझे अकसर ख्याल आता कि शायद उनकी पाक रूह ने महसूस कर लिया था कि वतन पर जो सितम अंग्रेज बहादुर की तरफ से टूटेंगे, उनको देखने के पहले की आंखें बंद कर लेना बेहतर है।

‘1857 को शुरू हुए एक दो महीने गुजरे थे कि चुपके-चुपके ये खबर फैली कि डंकाशाह को अंग्रेजों ने फैजाबाद में गिरफ्तार कर लिया है। हमारे लोगों में अजब बेचैनी और कशमकश-सी फैल गयी। मैंने एक दिन अपने वालिद को मेरी मां से कहते सुना कि बेनीमाधव को उसके मामू के पास शाहजहांपुर भेज दो। यहां हालात अब बिगड़ने वाले हैं।

‘फिर एक रात ये खबर जंगल की आग की-सी तेजी से फैली कि मेरठ में अंग्रेजों के साथ

बहुत कुछ खराब सुलूक देसी सिपाहियों के हाथों हुआ है और अंग्रेज मेरठ, बुलंदशहर बगैरह छोड़-छोड़कर पंजाब की तरफ भाग रहे हैं। वाकिआ क्या हुआ, उसकी तफसील न मालूम हुई सिवा इसके कि सिपाहियों को ऐसे कारतूस मुंह से काटने को मिले थे जिनमें सुअर या गाय की चर्बी थी। मंगल पांडे नामी एक सिपाही ने कारतूसों को काटने से इनकार किया और अपने अंग्रेज अफसर को गोली मार दी। कहा जा रहा था कि अंग्रेजों ने यह खबर दबा रखी थी, लेकिन अब ये हर तरफ फैल गई है। देसी सिपाही जगह-जगह निकल रहे हैं और आला हजरत जिल्ले-सुब्हानी अबू जफर सिराजुद्दीन बहादुरशाह सानी को शाहे-हिंद का लकबा देकर दोबारा तख्तनशीन कर दिया। दूसरे दिन और नजदीक की ये खबर आई कि देसी सिपाहियों और डंकाशाह के सिपाहियों ने फैजाबाद का जेलखाना तोड़कर डंकाशाह को रिहा करा लिया और वे अब एक हुजूम के साथ लखनऊ आ रहे हैं।

‘उसी रात बहुत देर गए एक कड़क बूढ़ा मुंह पर डांट लगाए हमारी गढ़ी पर आया कि मैं बलिया के बाबू कुंवर सिंह का एलची हूं, मुझे ठाकुर साहब से मिलना है। बाबू कुंवर सिंह की उम्र उस वक्त अस्सी के करीब थी, लेकिन उनका दबदबा दूर-दूर तक था। वह अंग्रेजों से नफरत करते थे और अपने इलाके में आने वाले अंग्रेजों को सरे-बाजार गालियां दिलवाते थे। मेरे वालिद ने एलची से कुछ बात किए बगैर उसका मुद्दा समझ लिया। मुझे उन्होंने उसी एलची के एक नायब के साथ रातों रात शाहजाहांपुर रवाना कर दिया। मैंने हजार कहा कि मैं आपके साथ रहूंगा, लेकिन उन्होंने एक न मानी। दादा मरहूम के बरखिलाफ वह मिजाज के बहुत तेज थे और उनके सामने किसी की न चलती थी। मैं तो उनका बच्चा ही था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि सुबह होते-होते मेरे वालिद भी चंद जानिसारों को साथ लेकर कुंवर सिंह की तरफ निकल गए। हमारी गढ़ी पर मेरी वालिदा और कुछ बूढ़े नौकर रह गए।

‘लड़ाई का वह सारा जमाना मैंने शाहजहांपुर के एक कस्बे रोजा के बाहर अपने मामू के शिकारी बंगले में गुजारा। मामू के आदमी हर वक्त मुझ पर कड़ी निगाह रखते कि कहीं घर से निकल न जाऊं। लड़ाई की खबरें कभी-कभी वहां तक पहुंच जाती थीं। हिंदुस्तानी सिपाहियों की हर फतह के साथ मेरा दिल बल्लियों उछलता और हर शिकस्त के साथ उतना ही गहरा डूब भी जाता।

‘1858 का बीच आते-आते जंग खत्म होने लगी थी और मेरे सब्र का पैमाना भी छलकने लगा था। मैंने दिल में ठान ली कि मुनासिब मौका देखकर बंगले की ऊंची दीवार फांदकर निकल जाऊंगा और बिरजीस कदर के सिपाहियों से जा मिलूंगा।

‘मैं अपने लिए सवारी का इंतजाम कर रहा था। इरादा था कि एक दो रातों में वहां से निकल लूंगा। अचानक मुझे एक मुलाजिम ने चुपके से बताया कि बिरजीस कदर, बेगम हजरत महल, मौलवी अहमदुल्लाह शाह सब के सब अलग-अलग जंगों में शिकस्त खाकर उत्तर की तरफ जाने वाले हैं। उन्होंने हथियार नहीं डाले हैं और न इसकी कोई तवक्को ही उनके साथियों से है। शाम को ये इत्तिला मेरे जिस्म को झिंझोड़ गई कि मौलवी साहिब अपने साथियों को लेकर हमारे दूर के रिश्तेदार जगन्नाथ सिंह राजा पुवायां के यहां ठहरने वाले हैं। पुवायां हमारे कस्बे रोजा के बहुत करीब न था, लेकिन एक रात के धावे में वहां पहुंचना मुमकिन था।

‘गई रात मैं कमेंड लटकाकर और हाथ-पांव तुड़ाने का खतरा मोल लेकर बंगले की ऊंची दीवार से उतरा। एक वफादार नौकर दो उम्दा घोड़ों के साथ इंतजार कर रहा था। बेथकान भागते हुए हम

दिन निकले पुवायां की सरहद के पास पहुंचे तो हर तरफ फिरंगी झंडों और फौजों का पड़ाव देखा। मेरा माथा ठनका। वहीं रुककर मैंने सरगोशियों में ये मनहूस खबर सुनी कि राजा पुवायां की गद्दारी ने डंकाशाह की जान ले ली। थोड़ी देर में ही ये बात बिल्कुल खुल गई जब मैंने गांव की औरतों के एक गिरोह को देखा कि जो डंकाशाह के मातम में सीना पीटती हुई चली आ रही हैं। उनके पीछे ही चंद औरतें हाथ उठा-उठा करके जगन्नाथ सिंह को बुरा-भला कह रही थीं। कंपनी के सिपाही उन्हें ढकेल-ढकेल कर गांव के अंदर ले जा रहे थे।

‘दुनिया मेरी नजर में अंधेरी हो गई। ये बात अब बिल्कुल साफ थी कि हिंदी फौज की हर जगह शिकस्त हो चुकी। अब कुछ रहा न था जिसके लिए जंग की जाए। मुलाजिम को तो मैंने वहीं रुखसत किया और उसका भी घोड़ा साथ लेकर मैंने चलती हुई राहें छोड़कर चुपचुपाते सुनसान रास्तों से आजमगढ़ की राह ली। कोई ढाई महीने में सफर में रहा जैसे कोई मफरूर मुजरिम कोतवाल से छुपता फिरता है। सारा रास्ता कंपनी बहादुर के जियाले सिपाहियों के जुल्म और अत्याचारों से पटा पड़ा था।

कुत्तों और चील-कौओं ने लाशें खानी छोड़ दी थीं। चील और लकड़बग्घे मुर्दों को खाते-खाते बीमार हो गए थे। रास्ते के दोनों तरफ कोसों तक फासियां ही फासियां नजर आती थीं। रास्ते में ये दुखद खबरें भी सुनाई दी कि बड़ौत बागपत के शाहमल जाट और गया महाबन के देवीसिंह तो अंग्रेजों की फतहे-दिल्ली के भी पहले गाजर-मूली की तरह कट गए। इलाहाबाद के मौलवी लियाकत अली का भी झंडा चंद हफते अकबरी किले पर लहरा सका। नील साहब ने उनको संगीन सजा देकर मारा। अंग्रेज हर तरफ सैलाब की तरह चढ़े हुए थे।

‘मैं शहर पहुंचकर चुपचाप एक जगह ठहर गया कि कुछ सुनगुन तो ले लूं। मेरे जानने वालों में कोई न मिला और अनजान लोग बात करते डरते थे। इतना सुना कि निजामाबाद के राजपूत बिल्कुल बरबाद हो गए। रात के अंधेरे में घर पहुंचा तो अपनी गद्दी को जमीबोस पाया। एक भी जानदार न था। रात भर की पूछताछ से इतना पता लगा कि वालिद और उनके सारे साथी कुंवर सिंह के साथ शहीद हुए। अंग्रेज फौज ने आकर हमारी गद्दी गिरा दी और नौकरों को मौत के घाट उतार दिया। मेरी वालिदा ने इज्जत बचाने की खातिर गद्दी के कुंए में कूदकर जान दे दी। अब अंग्रेज सिपाही मुझे पूछते फिर रहे थे। मेरे मुसलमान रिश्तेदार जो कत्ले-आम से बच रहे थे, वतन छोड़कर कहीं और जा बसे। अब किसी को उनकी खबर नहीं।

‘मुझ पर अर्सा-ए-जमीन और अर्सा-ए-हयात दोनों तंग आ चुके थे लेकिन मैं जाता भी तो कहां? शाहजहापुर को लौटना मुमकिन न था.....और वैसे मैंने दोनों थोड़े सफर के दौरान बेच दिए थे और मेरे सफर के आखिरी दिन पैदल चलते गुजरे थे।

‘गुजरी बातों को पचास से जियादा; बरस होने को आए, लेकिन लगता है कि अभी-अभी इन्हें ख्वाब में देखकर उठा हूं। मेरे मां-बाप की मनमोहिनी सूरतें, दादाजान और मौलवी खादिम हुसैन साहिब नाजिम के नूरानी चेहरे, पुवायां राज की सरहद पर अंग्रेजी फौज का हुजूम और डंकाशाह का मातम करती हुई और पुवायां के राजा को कोसती हुई औरतें।’

बेनीमाधव रुस्वा के लंबे और दर्द से भरे यादे-माजी में इस तरह मुझे मौलवी अहमदउल्ला शाह भी मिल गए थे.....।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का भाषण

गोपालराम 'गहमरी'

प्रस्तुति : संजय कृष्ण

हिंदी साहित्य और पत्रकारिता के विकास में गोपालराम 'गहमरी' का अविस्मरणीय योगदान है। उनके संस्मरणों में हिंदी साहित्य के आरंभिक वर्षों के दौरान चली बहसों आदि की जानकारी मिलती है। यह संस्मरण 'बहुवचन' के पाठकों के लिए संजय कृष्ण ने उपलब्ध कराए हैं।

मैं सन् 1879 ई. में गहमर स्कूल से मिडिल वर्नाक्यूलर की परीक्षा पास करके चार वर्ष तक घर बैठा रहा। गाजीपुर जाकर अंग्रेजी पढ़ने का खर्च मेरी माता गरीबी के कारण नहीं सम्हाल सकीं। मैं 13 वर्ष का था, इस कारण नार्मल स्कूल में भरती होने से वंचित हुआ। गहमर स्कूल में ही स्वयं हेडमास्टर से उच्च शिक्षा पाता हुआ लड़कों को भी पढ़ा रहा था। इस तरह चार वर्ष बीत गए। सन् 1883 में पटना नार्मल स्कूल में भरती हुआ। हिंदी वालों के लिए और आश्रय ही नहीं था।

सन् 1884 में बलिया जिले का बंदोबस्त हिंदी में हो रहा था। वहां के इंचार्ज मुंशी चैथरूलाल डिप्टी कलेक्टर थे और कलेक्टर राबर्ट रोज साहब हिंदी के प्रेमी थे। कानूनगो धनपतलाल सुंदर हिंदी लिखने वालों की खोज में पटना नार्मल स्कूल पहुंचे। वहां स चालीस छात्रों को बलिया लाए। मैं भी उन्हीं में पटने से बलिया आया। बलिया जिले में गड़वार में बंदोबस्त का दफ्तर था। हिंदी के सैकड़ों सुलेखक उसमें काम करते थे। खसरा जमाबंदी सुबोध सुंदर देवनागरी अक्षरों में लिखने वाले मुहरिर सफाई कहलाते थे। सौ नंबर खेतों का खसरा लिखने पर चार आना मिलता था, इस काम से बहुत से हिंदी के लेखक अपना उदर-भरण करते थे। मथुरा के मातादीन शुक्ल और जोरावर मिश्र उसमें सुयशभान सुलेखक थे। कलेक्टर साहब के हिंदी प्रेम का उन दिनों डंका बज गया था। मातादीन शुक्ल ने 'देवाक्षरचरित' नाटक लिखकर वहां स्टेज किया था।

उसी में नदीवनी हिंदी कलेक्टर साहब के द्वार पर पधारी थी और द्वारपाल के पूछने पर कहा था-

संस्कृत देवासुअन देवाक्षर मम नाम
बंगदेश आदिक रमत आइ गयो एहि ठाम
श्रवण सुन्यो यहि नगर को हाकिम परम उदार
सो पहुंचावहु तामु डिग मनिहौं बड़ उपकार

इस निवेदन पर द्वारपाल ने गरीबिनी हिंदी को कलेक्टर साहब के सामने पहुंचा दिया। उन्होंने सम्मान से हिंदी के यर्थाथवाद और सदगुण पर रखकर उसको स्थान दिया और हिंदी में बंदोबस्त

का काम जारी हुआ। यही नाटक का दृश्य था।

बिहार की कचहरियों में पंडित केशोराम भट्ट, पंडित शालीग्राम त्रिपाठी ठाकुर रामदीन सिंह आदि सज्जनों के उद्योग से जो हिंदी प्रचलित हुई थी, जिसका स्थान कैथी ने अधिकृत कर लिया था। उसके पश्चात यू. पी. में ही पहले पहल हिंदी का सरकारी कागजों में यह प्रवेश पहला कदम था। नहीं तो उन दिनों हिंदी का नाम भी कोई नहीं लेता था। पाठशाला तो पंडितों की बैठक में थी जहां वर्षों सारस्वत कंठ करने वाले छात्रों की पढ़ाई होती थी। जहां हम लोग पढ़ते थे वह मदरसा कहलाता था। पढ़ने की पंक्ति या श्रेणी वहां कहां, दरजा और क्लास भी नहीं उसको सफ कहते थे। सफ में रामागति और क, ख, ग, पढ़ने वाले भरती होकर सफ 7 में जाते। ऊपर उठते-उठते सफ अब्बल में जाकर मिडिल वर्नाक्यूलर कहलाते थे। मास्टर या शिक्षक उन दिनों सुनने को नहीं मिलते थे-मुदर्रिस कहलाते थे। उन्हीं दिनों काशी के बाबू हरिश्चंद्र ने हिंदी को नवजीवन दान किया था। उन्हीं दिनों काशी के श्री रामशंकर व्यास महोदय के प्रस्ताव पर उन्हें भारतेंदु की सर्वमान्य उपाधि दी गई थी। हम लोग उनकी कविता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मैगजीन में कभी-कभी पढ़ने को पा जाते थे। काशी से सन् 1884 ई में ही बाबू रामकृष्ण वर्मा ने अपने जादू घर से भरत जीवन साप्ताहिक का जन्म दिया था। उसमें हर सप्ताह एक नया छप्पय श्री विजयानन्द त्रिपाठी का छपता रहा। अंत को छप्पय बंद करके त्रिपाठीजी ने यह दोहा 'भारतजीवन' का मोटो बनाकर दिया :-

जयति ईश जाकी कृपा लेश ललित सर्वत्र,

'भारतजीवन' हित लसत 'भारतजीवन' पत्र

तबसे यही भारतजीवन का भाल तिलक अंत तक रहा।

श्री मातादीन शुक्ल रचित देवाक्षर रचित जब बलिया में अभिनीत हुआ, बहुत गणमान्य सज्जन दर्शकों में पधारे थे। नाटक में वहां बजाजों से रंगीन थान मंगाकर पर्दे बनाए गए थे। हिंदी में पहले पहल वही नाटक वहां के हिंदी प्रेमियों को देखने को मिला। वहां का उत्साह और सार्वजनिक भाषा स्नेह इतना उमड़ा कि श्री मातादीन शुक्ल के सुझाव और आग्रह पर मुंशी चैथरूलाल ने कलेक्टर साहब को हिंदी की ओर बहुत आकृष्ट किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र वहां आमंत्रित हुए। उनकी मंडली सब सामान से लैस वहां पहुंची। मैं उनदिनों बाबू राधा कृष्णदास से ही परिचित था। वह बच्चा बाबू कहलाते थे। उन्होंने दुःखिनीबाला नामक एक छोटा सा ग्रंथ लिखा था। मैं उन दिनों 18 वर्ष का था, हिंदी लिखने की रुचि थी, सामर्थ्य कम। भारतेंदु की मंडली भरके दर्शन मुझे वहीं बलिया में हुए थे और भारतेंदु का दर्शन पाकर अपने तई कृतार्थ हुआ। बड़ी श्रद्धा भक्ति से वहां भारतेंदु के नाटक लोगों ने देखे। भारतेंदु ने स्वयं हरिश्चंद्र बनकर सत्य हरिश्चंद्र का नाटक स्टेज पर खेला था।

उसके बाद भारत जननी और नील नाटक भी खेला गया। भारत दुर्दशा का खेल हुआ। तीनों नाटकों में देशी विदेशी सज्जनों की आपार भीड़ थी। सत्य हरिश्चंद्र में जब डोम सरदार ने यों कहके हरिश्चंद्र को मोल लिया और अपना काम सौंपा :-

हम चौधरी डोम सरदार

अमल हमारा दोनों पार

सब समान पर हमारा राज

कफन मांगने का है काज

सो हम तुमको लेंगे मोल
देंगे मोहर गांठ से खोल

साहित्य रसिक योग्य आलोचक देखें कि डोम के मुंह से निकलने वाले कैसे चुभते सरल शब्द हैं। आजकल के लेखकों के नाटकों में देखता हूं, ऐसे गंवार मुंह के पात्रों से वह संस्कृताहट के पंच से रहे शब्द निकलते हैं कि लोग अर्थ समझने के लिए कोश उलटने को बाध्य होते हैं।

भारतेंदुजी जिस पात्र के मुंह से जैसा शब्द चाहिए वैसा गुम्फित करके नाटकत्व की जो मर्यादा रखी है उसका अनुकरण करने वाले स्वाभाविकता दर्शाने वाले मर्मज्ञ उंगलियों पर गिनने योग्य सुलेखक भी हिंदी में नहीं दीखते।

यह चौधरी डोम सरदार के शब्द हरिश्चंद्र को उस समय मिले जब उन्होंने विश्वामित्र के निर्मम उलाहने और तीखे विष से भरे वचन वाण से मुर्च्छित-प्राय होकर करुणार्द्र स्वर से कहा था- मुनिराज अपना शरीर बेचकर एक लाख मुहर दूंगा।

विश्वामित्र ने कहा- तूने अपना राज मुझे दान कर दिया, खजांची को पुकारने का तेरा अधिकार नहीं। तू शरीर बेचेगा कहां? सारा राज तो हमारा है। हरिश्चंद्र ने कहा- काशी शिव के त्रिशूल पर बसी है। उसी की भूमि में अपने तई बेचूंगा। वही डोम चौधरी सरदार ने उन्हें मोल लिया

कफन मांगने का काम सुचारू रूप से संपादित करते हुए एक दिन श्मशान में जब शैब्या अपने सर्पदष्ट पुत्र रोहिताश्व का मृत शरीर लिए श्मशान में संस्कार करने आई और हरिश्चंद्र ने कफन का दान मांगा-

शैब्या ने विलखकर कहा-

मैं अपना आंचल फाड़ कर कुंवर का शव ढांका है। इसको आधा फाड़कर देने में तो उधार हो जाएगा नाथ? कैसे क्या करूं भगवन्!

यही कहकर जो उसे आंसू हाथ से पोंछे तो सामने ही पसारे हुए हाथ की हथेली पर चक्रवर्ती राजा का चिह्न देख पहचान गई और कहने लगी-

नाथ, यह तुम्हारा ही कुंवर रोहिताश्व है। अब कहां से मैं कफन दूं।

आंसू रोककर हरिश्चंद्र ने अपने तई संभालते हुए कहा-

हमको अपना कर्तव्य पालन करने दो देवी-

उस समय कलेक्टर साहब की मेम ने अपने पति द्वारा कहलाया कि बाबू से बोलो- एकट आगे बढ़ावें। वहां मेमों के रुमाल भींग रहे थे। उनको कहां मालूम था कि उसके आगे तो त्रिलोकीनाथ का आसन डोलेगा और अमिय वृष्टि नभ से होगी। नाटक का अंत होगा।

भारतेंदु ने ओवर एकट उस समय किया। विलाप के मारे सब देशी विदेशी दर्शकों के अश्रु बेरोक प्रवाहित हो रहे थे। करुणा में सब विभोर थे कलेक्टर साहब करुणा में अवाक् थे। स्टेज पर करुणा खड़ी थी। शैब्या रूपधारिणी बंग-महिला ने जो करुणा बरसाए, उससे सब विचलित हो गए थे।

भारतेंदु के श्मशान वर्णन के शब्द देखिए-

सोई भुज जे प्रिय गर डारे

भुज जिन रण विक्रम मारे

सोई सिर जहुं, निज बच टेका

सोई हृदय जहुं भाव अनेका
तृण न बोझ हुं जिनत सम्हारे
तिन पर काठ बोझ बहु डारे
सिर पीड़ा जिनकी नहि हेरी
करन कपाल क्रिया तिन केरी
प्राणहुं से बढ़ि जाकहुं चाहै
ता कहुं आजु सबै मिलि दाहैं ।

इस करुणा को लांघकर उस कफन मोचन का अवसर किसी से सह्य नहीं हुआ था। उसके बाद ही तो आसन डोला, सब जी गए। करुणा बीत गई, अमिय वृष्टि से नाटक का अंत हुआ। हेमंत की हाड़ कंपाने वाली भयंकर शीत में हम लोग बलिया से गड़वार पैदल रवाना हो गए।

भारतेंदुजी अपनी मंडली सहित ससम्मान वहां से विदा होकर काशी लौट गए। सन् 1984 ई. को अंतिम मास था। सुना काशी पहुंचने पर रुग्ण हो गए। छाती में उनके दर्द उठा। एक मित्र से सुना कि भारतेंदुजी एकांत में योग साधना करते थे। नित्य के साधना में किसी समय कुछ भूल हो गई छाती में वेदना होने लगी। उस वेदना से ही उनका अंतिम काल आया।

छह जनवरी सन् 1889 मंगलवार को काशी में उनका स्वर्गवास हो गया। हिंदी का शृंगार रस गया। भारतेंदु का अस्त हुआ। भारत जीवन भर सुधानिधि, भारतमित्र, मासिक भारतेंदु ब्राह्मण हिंदी प्रदीप आदि समस्त पत्रों में महीनों विषाद रहा। सब पत्रों ने काला कलेवर करके दुःख प्रकट किया।

भारतेंदु ने एक स्थान पर लिखा है-
कहेंगे सबैही नयन नीर भरि-भरि
पाछे प्यारे हरिश्चंद्र की
कहानी रहि जाएगी ।

अब वही रह गई है ।

कविता

विष्णुचंद्र शर्मा की कविताएं

सजीव सुबह

आकाश बताता है सुबह का आठ बजा है
पारी की सुबह
तुम्हारी नहीं, मेरी भी है
तुम्हारे बगीचे की रंगारंग सुबह
तुम्हारे कलात्मक स्थापत्य की सजीव सुबह
तुम्हारे सपनों की सुबह
अब डायरी बन गई है मेरी।

मैक्सिको सिटी

मन है जो उड़ रहा है
मन में पांव उगे हैं
कैसी है मैक्सिको सिटी
कैसे हैं लोग बाग
बार-बार मन में
एक नाम मार्गरीटा का आ रहा है
चेहरा अभी धुंधला है मार्गरीटा का
रानी ने मार्गरीटा के साथ खड़े
डेविड की तस्वीर दी है
कब अमेरिका से डेविड गए थे
मैक्सिको सिटी
कब उसने एक होटल शुरू किया था
मेरे कवि के लिए
फ्रीडा क्रोल एक पेंटिंग है
मैक्सिको सिटी की।

चलता-फिरता पारी

विदाई

हँसी की एक बुनावट है
नहीं वह एक नदी है चेहरे पर...

चलती-फिरती

नहीं वह चलता-फिरता पारी का शहर है
नहीं सभ्यता का है यह अविभाजित आकाश
पारी तुम सजीव हँसी हो
मेरे लिए हो विदाई की हँसी
क्या बूढ़ी हो गई है मेरी घुमक्कड़ी?
फिर भी हम दोनों हर कक्ष में
हँसी का अपना-अपना
नक्शा छोड़ आए हैं।

थिएटर (एक)

सब कुछ सलीके से है यहां
सिर्फ दिल बहक जाता है
सिर्फ फूल दिल से खिलता है
सिर्फ मंच पर जब कई वाद्य-यंत्र एक साथ बज रहे हैं
तो दिल आकाश में विचरता है
आंखें अँधेरे-उजाले के बीच बंद हो जाती हैं
सिर्फ चेहरे एक थिएटर में उतरते हैं
और मंच की रोशनी के बीच एक मन
बजाता है गिटार
और ध्वनि भीतर टकरा जाती है।

थिएटर (दो)

कल सूखे पहाड़ में
मैंने नहर बनाई थी
अदबदा कर पर्वत से लुढ़के थे पत्थर
पत्थर तराशकर
कल मैंने रची थी कला-प्रदर्शनी
आज लकड़ी काटकर

खिड़की बनाई थी मैंने
जड़ा था उसमें शीशा
सूखे पहाड़
गर्दन उठाकर
या पीठ के बल लेटकर
देख रहे हैं
मेरा रचना-संसार ।

थिएटर (तीन)

इंतजार
किसका है
पर्वत पर
सोए हुए पत्थरों का
जले हुए पेड़ों का
अनबोली घाटी का
हरी-भरी उगी हुई घास का
आदिम रेड इंडियन का
आदिम हथियारों का
झरनों का
नदी का!
धूप नहीं बतलाती है
पेड़ नहीं बोलता है
इंतजार फिर भी है
इंतजार फिर भी है!



ए. अरविंदाक्षन की कविता

नए इतिहास की खोज

वह अपना सच ढूंढ रहा था,
अपना इतिहास ढूंढ रहा था
उसका इतिहास
कहीं भी दर्ज नहीं था।
मां-बाप नादान निकले
कुछ नहीं जानते थे
कोई कुछ नहीं जानता था।
बेचैनी ने उसके लिए अनेक द्वार खोल दिए
अंधेरे से उजाले की तरफ खुलने वाले द्वार
धरती से आकाश की तरफ खुलने वाले द्वार
उसके कदम बढ़ते गए
बादलों के पहाड़ों पर चढ़ते हुए
व्योम के विशाल इलाके में वह भटकता रहा
वह अपना सच ढूंढता चला गया।
बादल जब भी धरती पर उतर आए
वह भी उतरा
तराइयों में वह भटक रहा था
गांव वालों ने उसे अन्न दिया
जल दिया
वह एक पेड़ के नीचे बैठ
आगे के रस्तों के बारे में सोच रहा था।
* * * *
हवा की द्रुत-विलंबित आवाज ने उसे सुला दिया
वह सन्नाटे के संगीत में डूब गया था
अचानक वह जग गया
उसकी आंखें पूरी तरह से खुल गईं

कड़ी धूप थी
 जगह वीरान थी
 उसके मुंह से यों ही निकल गया
 'धूप और उसकी कटुता
 एक सच है'
 इस कड़ी धूप में
 एक रास्ता ढूंढना है
 दूर एक आकृति दिखाई दे रही थी
 मैली-कुचैली, तुड़ी-मुड़ी
 वह नजदीक आ रही थी
 थकी-हारी
 पसीने से लथपथ
 एक औरत
 उसने अर्ज किया
 प्रभु, तू दयावन हैं
 मेरी रक्षा कर
 प्रभु, मेरी सुहाग की
 तू रक्षा कर
 धूप का रास्ता उसे ले चलता है
 एक बस्ती की ओर
 बस्ती के थके चेहरे उसे देखते हैं
 फिर वही थकी आवाज़
 रक्षा कर, रक्षा कर, रक्षा कर, प्रभु!
 उस भूखी बस्ती में
 एक आदमी बेहोश पड़ा था
 बस्ती की आतुर आंखें
 उसकी तरफ थीं
 जोर से वह कहना चाहता है
 मैं कुछ नहीं कर सकता
 किसी का अन्न मुझे जिंदा रख रहा है
 किसी का जल मुझे जीवन-दान दे रहा है
 मैं कुछ नहीं कर सकता
 मैं अपना पथ ढूढ़ता
 अपना इतिहास ढूढ़ता
 एक पथिक।

बेहोश पड़े मर्द की तरफ वह झुकता है
 उसके काले शरीर पर हाथ रखता है
 माथे को सहेजता है
 किसी का दिया जल था
 उसे वह पिलाता है।
 वह कुछ कहता नहीं
 सभी आंखें उसे सहेज रही हैं
 हर किसी की आंखों में प्रार्थना की नमी है
 आवाज आ रही है
 प्रभु, रक्षा कर!

* * * *

प्रभु कौन है?
 रक्षा करने वाला?
 भूख मिटाने वाला?
 वस्त्र देने वाला?
 छप्पर देने वाला?
 मैं प्रभु नहीं हूँ
 प्रभु को आप स्वयं ढूँढ़ लीजिए
 मुझे अपना पथ ढूँढ़ना है
 अपने सच का पता लगाना है
 वह चलने को हुआ
 दुबली सी वह औरत उसके पैरों पर गिर पड़ी
 प्रभु! आपने मेरे सुहाग की रक्षा की
 मैं क्या समर्पित करूँ प्रभु?
 मेरे पास कुछ भी नहीं
 मैं आपके चरण ही धो सकती हूँ
 सचमुच वह चरण धो रही थी
 आंसुओं से
 उसके गीलेपन ने उसे लज्जित कर दिया
 धीरे से उसने कहा
 बहिन, मैं प्रभु नहीं
 पर उस थकी-हारी बस्ती ने उसे सुना नहीं।
 उसका मन अशांत था
 मेरा कोई इतिहास नहीं
 खोज कहां से शुरू करूँ?

मामूली जीव का इतिहास क्या कोई रचता है?
इतिहासकार ही यह बता सकता है
पर इतिहासकार है कौन?

उसे कहां ढूँहें?

* * * *

एक साफ सुधरा रास्ता मिला उसे
अनुशासनप्रियता का नमूना ।
सचमुच वह नया इलाका है
वह नगर का एक खूबसूरत कोना है
शांत और गंभीर
उसे लगा

वह उस गंभीर इलाके में
अयाचित सा प्रवेश कर रहा है
उसने एक राजपुरुष से पूछा
इतिहासकार की हवेली कहां है?
वह सकपकाया

उस इलाके के सभी इतिहासकार हैं
आपको किससे मिलना है?
मुझे उस इतिहासकार से मिलना है
जो हम सब का इतिहास रचता है
राजपुरुष ने कहा

उस इतिहासकार से मिलने के लिए
तुम्हें व्रत का पालन करना है
सात दिन व्रत रखो
उसके बाद तुम्हें अनुमति मिलेगी

इतिहास

पवित्र वस्तु है

इतिहास

ब्रह्म का वरदान है

इतिहासकार

मनुष्य के आकार में अवतरित

ईश्वर ।

* * * *

कठिन व्रत और तप

पूजा-पाठ

अल्पाहार

नदी तट पर वह ध्यान मग्न था

एक गंभीर स्वर ने उसे जगाया

वत्स क्या जानना चाहते हो?

आंखें उसने खोलीं

अपरिचित व्यक्ति बता रहा था

तुम ब्रती हो कठोर

मैं प्रसन्न हूँ,

वह इतिहासकार मैं ही हूँ।

उसने प्रणाम किया

सधे शब्दों से उसने पूछा

‘मनुष्य का इतिहास कौन रचता है?’

दूढ़ स्वर में उत्तर मिलता है

‘मनुष्य का इतिहास मनुष्य ही रचता है’

‘जो इतिहास उपलब्ध है उसमें मेरा कोई इतिहास नहीं’

‘किसने कहा तुम्हारा इतिहास नहीं है?’

प्रश्न कठोर था

‘कहां है मेरा इतिहास?’

* * * *

इतिहासकार की हवेली

सचमुच एक तहखाना था

अतीत की ओर खुलते गुहामुख की तरह

प्राचीनता की गंध लिए

तहखानों का नैरंतर्य

एक तहखाना

लग रहा था वह अंधेरे का है खज़ाना

इतिहासकार का चेहरा ठीक से दिखाई नहीं पड़ रहा था

अंधेरे से एक प्रश्न गूँज उठा

तुम अपना इतिहास जानना चाहते हो?

लो, यह देख

अंधेरे की लिपियों से तुम्हारा इतिहास लिखा गया है

पढ़ पाओगे?

नहीं, मैं तुम्हें सुनाता हूँ

ध्यान से सुनो

तुम्हारा इतिहास बहुत पुराना है

दिया तले अंधेरा होता है
 ज्ञान के साथ अज्ञान का अंधकार होता है
 तुम्हें शायद मालूम नहीं
 इतिहास के कई पड़ाव होते हैं
 हम इतिहासकार
 इन पड़ावों को अपना विषय बनाते हैं
 तुम्हारे इतिहास के हर पड़ाव में
 तुम
 तुम्हारे समस्त वंशज
 आदमी के आकार तो अपना सके
 लेकिन आदमी का जीवन न पा सके
 मेरे इतिहास के इन पन्नों को देखो
 यहां तुम्हारे वंशज
 मवेशियों की तरह
 अपने-अपने मालिकों के हाथों बिकते रहे
 तुम लोगों ने भी रास्ते तय किए
 कितने रास्ते तय किए होंगे
 न तुम्हें पता
 न तुम्हारे मालिक को
 न किसी को
 तुम्हारी सिर्फ गिनती होती है
 तुम्हारे मालिकों ने लड़ाई लड़ी
 यह मत पूछो किसके लिए
 उन्हें लड़ाकू सैनिकों की जरूरत थी
 सिपहसालारों की पूरी टोली
 तमाम मुखिया लोग
 महलों के तहखानों में
 किलों के तहखानों में
 अपने को सुरक्षित रखते थे
 उन्हें फौजी चाहिए था
 लड़ाई के मोर्चे पर लड़ने वाले
 तलवार चलाने वाले
 फौजी चाहिए था
 लड़ाई जब खत्म होती थी
 तुम्हारी सिर्फ गिनती की जाती थी

कितने लंगड़े हुए?
 कितने रोगग्रस्त?
 बाकी की गिनती ली जाती थी
 गुलामों की गिनती जरूर ली जाती थी
 इतना कहकर
 रुक गए इतिहासकार
 फिर कहा
 मैं अपनी परेशानी सुनाने जा रहा हूँ
 लड़ाई जब खत्म होती थी
 इतिहास में लड़ाई घुस आती थी
 मालिकों के नाम
 और उनकी बहादुरी की कहानियां
 इतिहास में प्रवेश कर जाती थीं
 तुम और
 तुम्हारे वंशज
 मरे हुए गुलामों में गिने जाते थे
 इतिहास में गिनती का क्या असर?
 नरहत्या का विकराल रूप
 इतिहास में अंकित होता था
 लेकिन रास्तों में गिर जाने वाले गुलाम
 इतिहास में प्रवेश नहीं कर पाते थे।
 इतिहासकार ने अपनी पोथी बंद कर ली
 अब वह ध्यान मग्न
 अपनी तंद्रा में लीन।

* * * *

तहखाने से वह बाहर आया
 उसी रास्ते से वह लौट चला
 साफ-सुधरा रास्ता
 भद्र जनों का होता है
 इतिहासकार भद्र जन है
 उसने इतिहास का रूप रचा है,
 उसकी सीमाएं खींची है
 इनसानों की मुठभेड़
 एक दूसरे का गला काटना
 तमाम मंत्रणाएं,

रण नीतियां,
अपवित्र विवेचनाएं
इतिहास में प्रवेश कर पाती हैं
इतिहासकार अपने इतिहास का द्वार खोलकर
लिखने बैठता है
नाइनसाफी के तमाम कारनामों को वह इतिहास में बदलता है
इनसान के दास्तान को वह मामूली गिनती में रखता है उसे वह इतिहास कहता है।
* * * *

शाम ढल चुकी थी
बीमार बस्ती में मायूसी छाई थी
वह चौपाल पर बैठा था
आते-जाते लोग उसे देखकर भयभीत हो गए
आदमी
आदमी के लिए भय का कारण बनता है
वह कांप उठा।
यह बस्ती कराह क्यों रही है?
किस इतिहास में मैं इसे ढूंढ़ पाऊंगा?
कुछ बुजुर्ग लोग
डरते-डरते उसके नज़दीक आ गए
अपनी भाषा से वंचित
अपने दुबले शरीर को लिए
गिड़गिड़ाते उसके नज़दीक आ गए।
आदेश पालन करने आए थे वे
उनके जवान बेटे अब गुलाम बनने को तैयार थे
वे फौजी बनने को तैयार थे
अनुनय था उनके स्वर में
पूरी तरह से विनम्र थे वे
दूसरी सुबह
वह गुलामों की बस्ती घोषित होती है
बिना नाम
बिना घर
गुलाम घोषित लोग
किसी मालिक के गुलाम बनते हैं
वह तड़प उठता है
कौन सी यह अंतप्रेरणा है?

कौन सी यह मजबूरी है?
 ये गुलाम कैसे बन जाते हैं?
 वह बस्ती से निकल पड़ा
 बीमार बस्ती उसे कोई जवाब न दे सकी
 बचे-खुचे लोग भय से टूट चुके थे
 बची-खुची औरतें निचोड़ दी गई थीं
 उसे कोई रास्ता मालूम नहीं था
 जो कोई रास्ता दिखाई दे रहा था
 वह चला जा रहा था
 आखिर वह एक टीले के ऊपर पहुंच जाता है
 वह थक चुका था
 टीले के ऊपर
 एक पुराना मंदिर था
 देवी मां की टूटी मूर्ति
 सूखे पत्तों के अंदर दबी पड़ी थी
 थकान के बावजूद
 उसने पत्ते हटाए
 अपने मैले कपड़े से मूर्ति को साफ किया
 कुछ दूर
 सूखे पत्तों का ढेर बनाया
 जलाया उसे
 ज्वलित अग्नि की रोशनी में
 देवी मां की सूरत साफ थी
 वह देखता बैठा रहा
 उसकी थकान दूर होती गयी
 लगा उसे
 देवी मां कुछ कह रही है-
 वत्स!
 मनुष्य की पेशियों का बल सीमित है
 अधिकार का बल
 अक्ल का बल
 असीमित है
 उस तराई की तरफ देख
 मालिक के लिए लड़ने जाते युवाओं की कतार
 वे युवा युद्ध के नाम से भी अपरिचित हैं

पर वे तलवार उठाएंगे
 सामने से वार करने वालों पर तलवार चलाएंगे
 अपने मालिक के लिए।
 मालिक अपना अधिकार बढ़ाना चाहता है
 अपने प्रदेश की विस्तृति चाहता है
 अपना ऐशो-आराम चाहता है
 अपने अंतपुर की संख्या बढ़ाना चाहता है
 हर महल एक इतिहास है
 हर रनिवास एक इतिहास है
 हर किला एक इतिहास है।
 उस कतार का पहला व्यक्ति
 उसका नाम केशो है
 उसे गुलामों का सरदार बनाया गया है
 अपने लोगों पर हुकुमत चलाना उसे सिखाया गया है
 यही अक्ल का इतिहास है
 उसे सहजीवियों को पीटना सिखाया गया है
 उसे छोटी-मोटी सुविधाएं दी गई हैं
 उसे सरदार के नाम से पुकारा जाता है
 वह गुलाम का सरदार है
 एक बहुत बड़ा गुलाम
 गुलाम पिटते रहते हैं
 काम चलते रहते हैं
 मालिक के लिए सड़क
 महल
 किला
 गुलाम जब पिटता है
 नया कुछ बनता है
 इतिहास में नया कुछ जोड़ा जाता है।
 * * * *
 केशो
 गुलामों का सरदार, निडर
 काम का पक्का, नेक
 और दिलदार।
 दिन भर काम
 रात को पहरेदारी

रनिवास की रखवाली
 केशो
 रात भर जागने वाला
 सपने बुनने वाला
 सरदार
 वह सपने देख रहा था
 बैठे-बैठे
 रनिवास का द्वार खुलता है
 पर केशो सरदार सपना देख रहा था
 रनिवास से परी सी कोई बाहर आई
 केशो सपने में अपनी परी से बतिया रहा था
 केशो सपने में लीन था
 परी भी लीन थी
 रातरानी की महक
 हवा में छाई थी
 केशो महक में डूबा था
 उसका सपना चलता रहा
 उसके सपने का अंत ही नहीं हुआ
 एक अंतहीन सपने में वह विलीन हो गया था ।
 * * * *

देवी मां
 चुप हो गईं
 उसके चेहरे पर रोशनी थी
 वह धीरे-धीरे मंदिम पड़ने लगी
 अब वह टूटी मूर्ति बन गई थी
 वह टीले से नीचे उतर आया
 सुबह हो चली थी
 उसे एक नए इतिहासकार से मिलना था
 एक लंबी यात्रा उसे तय करनी थी
 वीरान इलाके से
 नागरिकों के भीड़वाले इलाके तक
 मुर्दों की तरह जीने वाले लोगों के इलाके से
 अकलमंद लोगों के इलाके तक
 उसे यात्रा करनी है
 उसे नए इतिहासकार से मिलना था ।

कविता

मजीद अहमद की कविताएं

एक ठिठकी हुई शाम

(शकूर खां की सारंगी सुनते हुए)
नई-नई मुद्राओं और भंगिमाओं के साथ प्रस्तुत होते हैं शब्द
टूटकर कोई पत्ता
गिरता है भाषा की नदी में

‘देस’
आलाप और द्रुत के मध्यक्रम में
रचता हुआ श्यानुभूतियों की आभा

एक भूली हुई कहानी के उपसंहार-सा वर्तुल चंद्रमा
जिसकी पेशानी पर अंतर्लुब्ध कई द्वंद्व
खंडहर जो रहा आया होगा कभी मध्यकालीन अंतःपुर
सिसकने लगता है सहसा
दर्द की नक्काशीदार मीनारों पर फड़फड़ाता है कोई परिंदा

खामोशियों में पिरोए हुए
आंसुओं में
ठिठकी हुई शाम

दिशाओं का शोकगीत आर्त्तनाद करता हुआ ।

दार्जलिंग

यहां की ठंडी हवाओं का मौन स्पर्श
स्मृतियों को जगाता है धीरे-धीरे
अचानक प्रेयसी की तरह आई बदलियां
बांध लेती हैं-तन और मन और

इस छाया से भर जाता है उजाला
और मैं रोशनी की नदी में
किल्लोलें करता हुआ तैरता हूँ।

नदी में परछाइयां

शाम गिर रही है-
घिर रहे हैं पेड़, पक्षी और नदी

बादलों के अक्स
स्याह, सफेद और चितकबरे
भादों का महीना है यह
और नदी भरी है
जिसमें एक नाव विपरीत चल रही है
और कई सीधी

आसमान में गहरी उड़ान भरते
पक्षी की प्रतिच्छाया जल पर पड़ रही है
झांकते हैं पेड़ फिर नदी में
आंकते हुए सन्नाटे का कछार।

रासद्वीप

रास द्वार पर हहराता समुद्र
टूटी बिखरी लहरों की बाढ़
ये ध्वस्त किले, शाही महल और इन तमाम कमरों में झांकते
चौकड़ी मारे बैठे पुरातन पेड़, झुरमुट झरोखे बन गए हैं

नीला महाशून्य जैसा समुद्र
अद्भुत जीवट के अर्द्धमृत पेड़ों को उठता-बैठता देखता है
आदिम जंगलों की याद दिलाती उबड़-खाबड़ बस्ती
किसी बंधन को स्वीकारती नहीं

मुक्त हवाओं से अठखेलियां करते शिलाखंड
खुले बिखरे हैं
छतहीन दीवारों के मकान समुद्र की छाती से चिपके

सुनसान होकर भी बोल रहे हैं
आदमी का बौनापन और जापानियों की युद्धगाथा का इतिहास

अंडमान का भरा-हरा समुद्र
खालीपन को ललकारता अट्टहास करता है दिन-रात
हवाओं की सनसनी से लिपटा रॉस हहराता है
समुद्र की विराट देह मापने में असमर्थ आंखें
फिर-फिर लौटती हैं-रॉस ।

नींद में

जैसे समुद्र के भीतर बजती है सारंगी
एक करुण लय, जो करुणतर होती जाती है
बिलांबित में मिटती हुई

वह पानी और पत्थरों की काया छीनकर
परछाईयों को सौंपती हैं
रूमाल की तह में छुपाकर
रखती हुई तमाम आवाजें

नींद में होना आइनों से घिरे होना है
वह जो एक प्रार्थना है पश्चाताप से भरी

उनींदपन के धुंए में
झांकते हैं फिर-फिर
मुंह-अंधेरे के प्रेत
रात के कुएं से भरते हुए पानी ।



कविता

भरत तिवारी की कविताएं

सारे रंगों वाली लड़की (एक)

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?

आम के पेड़ में अभी-अभी जागी कोयल
धानी से रंग के बौर
सब दिख रहे हैं
उन आंखों को
जो तुम्हें देखने के लिए ही बनीं

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो

तुम्हारी सांसों का चलना
मेरी सांसों का चलना है
और अब मेरी सांसें दूभर हो रही हैं

गए दिनों के प्रेमपत्र पढ़ता हूं
जो बाद में आया वह पहले
सूख रही बेल का दीवार से उघड़ना
सिरे से देखते हुए जड़ तक पहुंचा मैं
पहले प्रेमपत्र को थामे देख रहा हूं, पढ़ रहा हूं
देख रहा हूं पहले प्रेमपत्र में दिखते प्यार को
और वहीं दिख रहा है नीचे से झांकता सबसे बाद वाला पत्र
और दूर होता प्रेम

वहां हो
यहां हो

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?

सारे रंगों वाली लड़की (दो)

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?
फिर आई
बिना-बताए-आने-वाली-दोपहर
बढ़ाती, दूरी से उपजती पीड़ा
अहाते में सूखता सा मनीप्लांट
जैसे मर ही जाएगा
जो तुम बनाती हो

उसकी बेल आम के पेड़ पर चिपकी है
पता नहीं क्यों नहीं मरा?
नियति
और कैसे पेड़ के तने को छू गया
पत्तों का विस्तार
देखते-देखते हथेलियों से बड़ा हो गया
वेदना जब लगा कि जाएगी
स्मृतियों को खंगाल
जड़ से लगी यादें बाहर आने लगी
दर्द पुराना साथी
सहारा देता है फिर क्या धूप क्या अमावस?
दूर गए प्रेम की खोज
मिल ही जाता है स्मृति का कोई तना
ब्रह्मंड की हथेली से बड़ा रुदन?
कैसे मरे ये वेदना
सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?
सारे रंगों वाली लड़की
वृक्षों में भी हो ना।

सारे रंगों वाली लड़की (तीन)

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?
वहां हो
यहां हो
मेरी तरह
हमारे बादलों को भी
बिना बताए ही चली गई
जो तुम गई तो खूब बरसे
जो उसके बाद नहीं ही बरसे
बड़े भालू बादल ने बताया था
जब मैं तुम्हें प्यार कर रहा होता हूँ
बादल बूंदें इक्कठी कर रहा होता है
हमारी गर्मी से
बरस जाता है

तपती सड़क पर
पानी का भ्रम होता है
इंद्रधनुष नहीं ...

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?
इंद्रधनुष के किसी छोर पर

पानी बरसे
तब धूल छटे ।

सारे रंगों वाली लड़की (चार)

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?
ज्वार चढ़ी लहरें
सीने में

नहीं उतरती अब नीचे
नहीं सूखती
भीगी पलकें
रुकें ना कंपन बदन का

रह गई किनारे पर जो लहरें
वही हूं मैं
सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?

सूरज उतरा आंख में
डूबता जाता हूं उसमें
आ रहा है अंधेरा
लहरों के निशान
सूख निरा रेत होते

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?
समंदर हो, जलपरी हो
मेरी हो
ले जाओ मुझे
जलपरी।

सारे रंगों वाली लड़की (पांच)

सारे रंगों वाली लड़की
कहां हो?
तुम्हें याद है
कब मिले हम
कि हम अलग नहीं हो सकते
तुम्हें याद है
मौसम गर्मी, उमस का
सुहाना लगता है सिर्फ
सारे रंगों वाली लड़की

और उसी के रंग, मुझको
क्या तुम मुझ से मिल लेती हो जब
उमस आती है
तुम्हारी खुशबू आती है
तुम्हारा आलिंगन तब
चक्र बन बह रहा होता है
और मौसम चुराकर ले जा रहा होता है
उपजती उमस
अंदर तुम
बाहर भी
तुम
पुरवाई का झोंका
चक्र का प्रवाह बढ़ा चला जाता है
फिर आता है
सारे रंगों वाली लड़की
तुम मुझ में अचिरल चलती पुरवाई का चक्र हो
मेरी उमस, मेरी गर्मी, मेरी महक हो।



पांच विदेशी कविताएं

हाईची सूजीयामा, जापान (1933)

शब्दकोश

खोते हुए शब्दकोश में
मैं वहां नहीं जा पाया जहां
होना चाहिए था मुझे
इसलिए किया मैंने अपने आपको आमंत्रित
किसी और के घर
मैंने पिया वहां चाय का एक प्याला
और लौटा
अपने घर की जानिब।

ईवा लिप्सका, पौलैंड (1945)

कहीं और

मैं कहीं और रहना चाहूंगा
हाथों से बुने गए कस्बों में
उनसे मिलने के लिए
जो दुनिया में पैदा नहीं हुए

आखिरकार अकेले ही खुश होंगे हम
कोई पड़ाव हमारा इंतजार नहीं करेगा
कोई आगमन नहीं, कोई प्रस्थान नहीं
जैसे होते हुए ओझल किसी म्यूजियम में

कोई युद्ध लड़ा नहीं जाएगा हमारे लिए
कोई मानवता नहीं

कोई फौज नहीं
कोई हथियार नहीं
गुलाबी मौत मजे की बात होगी
पुस्तकालय में कई संस्करणों वाला वक्त
प्यार, एक पागल अध्याय

वह बुदबुदाते हुए पलटेगा
हमारे दिलों के पन्ने ।

डेनियल खार्मस, रूस (1905-1942)

नीली पुस्तिका

वहां रहा करता था एक फूहड़ शख्स
जिसकी आंखें नहीं थी और
कान भी नहीं थे
उसके सिर पर बाल भी नहीं थे
इसलिए कहलाता था वह फूहड़
सिर्फ आख्यान की एक आकृति

वह बोल नहीं सकता था क्योंकि उसका मुंह नहीं था
और उसकी नाक भी नहीं थी
उसके हाथ भी नहीं और पैर भी नहीं थे
उसका कोई पेट भी नहीं था
पीठ भी नहीं, रीढ़ की हड्डी भी नहीं और
जिक्र के लिए कोई आंतें भी नहीं

उसके पास कुछ भी नहीं था
इसलिए यह स्पष्ट नहीं है कि हम
किसके बारे में कर रहे हैं बात

वास्तव में अब हमें
कर ही देना चाहिए विषयांतर ।

चार्ल्स बादलेयर, फ्रांस (1821-1867)

पिए रहो

तुम्हें हमेशा पिए हुए होना चाहिए
यही कुछ है जो हो सकता है
सिर्फ यही एक रास्ता है
ताकि वक्त के उस भयावह बोझ को
तुम महसूस न कर सको
जो तोड़ देता है कमर और
झुका देता है तुम्हें पृथ्वी पर

तुम्हें पिए हुए होना ही चाहिए लगातार

लेकिन क्या?

शराब, कविता या नैतिकता
तुम इनमें से जो चाहो
लेकिन रहो पिए हुए

और अगर किसी महल की सीढ़ियों पर
या गड्ढे की हरी घास में
या तुम्हारे कमरे के शोकग्रस्त एकांत में
जाग उठो तुम दोबारा नशे में मुब्तिला
नशा धुंधलाता या जाता हुआ
तब हवा से पूछो
पूछो लहर से, सितारे से
पक्षी से, दीवारघड़ी से
हरेक उड़ रही चीज से
हरेक बुदबुदाती चीज से
हरेक लुढ़कती चीज से
हरेक गाती हुई चीज से
हरेक बोलती हुई चीज से

पूछो कि क्या वक्त हुआ जा रहा?

और हवा, लहर, सितारे, पक्षी

और दीवारघड़ी देंगे तुम्हें जवाब
ये वक्त है पीने का
ताकि वक्त के गुलाम होने से बच सको

पिओ
लगातार पिओ
शराब या कविता या नैतिकता
जो चाहो
लेकिन पिए हुए रहो तुम।

ब्रेंडन कैनेली, आयरलैंड (जन्म 1936)

तीन साल के बच्चे की कविता

और क्या फूल मर जाएंगे?
और क्या लोग मर जाएंगे?
क्या हर दिन होते हो तुम बूढ़े?
क्या मैं भी हो रहा हूँ बूढ़ा
क्या फूल बूढ़े हो जाते हैं?

पुरानी चीजें : क्या तुम उन्हें फेंक देते हो?
क्या तुम बूढ़े लोगों को फेंक देते हो?
कैसे मालूम होता है तुम्हें कि एक फूल बूढ़ा है?

पंखुडियां गिरती हैं,
फूलों से गिरती है पंखुडियां
क्या लोगों से भी गिरा करती हैं पंखुडियां?

हर रोज और ज्यादा गिरती है पंखुडियां?
जब तक वह फर्श, जहां मैं खेलना चाहता हूँ
भर जाता है बूढ़े फूलों और बूढ़े लोगों से
मैं चाहता हूँ खेलना फर्श पर
तुम आओ और बड़ी झाड़ू से बुहारो यह फर्श
धूल जो तुम बुहारते हो
क्या होता है सारी धूल, फूलों और लोगों से?

बनाते हुए ढेरी धूल की अपनी झाड़ू से
जो बुहार देती हर एक चीज
तुम क्यों करते हो इतनी मेहनत?
क्यों पोंछते और बुहारते हो एक ढेरी
बनाने के लिए?

और नए फूल कौन लाएगा?
और नए लोगबाग कौन लाएगा?
कौन लाएगा नए फूल पानी में रखने?
जहां नहीं गिरेगी फर्श पर कोई पंखुड़ी
और जहां मैं खेलना चाहूंगा

कौन लेकर आएगा नए फूल?
जो थके बूढ़े नींद के लिए ख्वाहिशमंद
लोगों की तरह
अपने चेहरे नहीं लटकाएंगे?

कौन लेकर आएगा नए फूल?
जो हर दिन झड़ेंगे नहीं
और यदि हमारे पास होंगे नए फूल
नए लोग बाग भी होंगे हमारे पास
जो देंगे फूलों को पानी
और रखेंगे उन्हें जीवित

और क्या नए जवान फूल मर जाएंगे?
और क्या नए जवान लोग मर जाएंगे?
और क्यों?

(सभी कविताओं का अनुवाद सुप्रसिद्ध कवि नरेंद्र जैन ने किया है)

स्त्री लेखन के प्रतिरोधी तेवर

जयनंदन

प्रसिद्ध विचारक कार्ल मार्क्स ने 'पूंजी' के पहले खंड में पृष्ठ 435 पर एक कविता का उल्लेख किया है-

आटा पीसने वाली लड़कियों
अब उस हाथ को विश्राम करने दो,
जिससे तुम चक्की पीसती हो,
और धीरे से सो जाओ!
मुर्गा बांग देकर सूरज निकलने का ऐलान करे तो भी मत उठो
तो भी मत उठो।

यहां सोने का अर्थ है मुखर विरोध करके परंपरागत शोषण से मुक्त होना। भारतीय वांग्मय में स्त्रियों को जो दर्जा प्राप्त था, वह आदर और सम्मान का था। 'यत्र नारी पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।' वह शास्त्रार्थ कर सकती थी। यज्ञ में भाग ले सकती थी। उसे स्वयंवर का अधिकार था। सबसे पहले अथर्ववेद में विवाह प्रथा के स्थापित किए जाने का उल्लेख आता है। इसके बाद ही स्त्रियों पर कई तरह के शिकंजे आरोपित कर दिए जाते हैं। मातृसत्ता से पितृसत्तात्मक समाज का अवतरण होता है और यहीं से स्त्री का दर्जा क्रमशः पतनोन्मुख होना शुरू हो जाता है। मनुस्मृति के उस श्लोक को बार-बार दिखाकर स्त्रियों को औकात में रहने की नसीहतें दी जाती हैं कि स्त्री स्वतंत्र नहीं हो सकती, उसकी जो प्रकृति है उससे वह स्वतंत्र नहीं रखी जा सकती। बचपन में वह पिता के अधीन है, युवावस्था में पति के अधीन और प्रौढ़ावस्था में पुत्र के अधीन। स्त्री की स्वाधीनता को व्यभिचार से जोड़ते हुए कहा गया कि इससे उसके कुपथगामिनी बन जाने का खतरा है।

पुरुष वर्चस्व धीरे-धीरे इस तरह स्त्रियों के जन्म से लेकर मृत्यु तक के क्रिया-कलाप पर काबिज होता गया कि कुछ भी उसके अपने वश में नहीं रह गया। धर्म और नैतिकता की आड़ में उस पर तमाम तरह की पाबंदियां थोप दी गईं। सीता की अग्नि परीक्षा हो या द्रौपदी का दांव पर लगाया जाना या फिर अहिल्या का शापित होकर पत्थर में तब्दील हो जाना- ये सारी कहानियां धार्मिक ग्रंथों की पवित्रता से उपजी हैं और ये साबित करती हैं कि स्त्री का सबसे ज्यादा शोषण उसके पति द्वारा ही होता है, जिसे वह परमेश्वर कहने के लिए प्रशिक्षित रहती है। पुरुष द्वारा देय वस्तुओं का उपभोग या फिर उनके द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं के बदले ही वह अपनी कृतज्ञता जाहिर करने के लिए

उसकी श्रेष्ठता का कायल बनती रहती है। वह अपनी सुरक्षा व सुविधा के बदले अपनी स्वतंत्रता की कीमत चुकाती रहती है। महिला मुक्तिवादी लेखिका सीमोन द बाउवार ने इसीलिए कहा है कि औरत जनमना औरत नहीं होती, उसे औरत होना सिखाया जाता है और यह काम धर्म, समाज, रूढ़ियां और इतिहास मिलकर करते हैं।

सदियों से दमन, हिंसा और अत्याचार की शिकार होती आईं स्त्रियां जब शिक्षा, आत्मनिर्भरता और नई चेतना की रोशनी की जद में आईं और पूरी दुनिया में समानता के अधिकार के पुरुष प्रवक्ता उदारता से सामने आने लगे तो नारी जागरण का एक नया माहौल बनने लगा। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर 1975 का वर्ष अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया गया। यह दुनिया भर में विभिन्न स्तरों पर महिलाओं के प्रति बरती जा रही असमानता व उसके कारणों की ओर ध्यान दिलाने की संयुक्त राष्ट्रसंघ की कोशिश थी। महिला किस हद तक गुलाम व शोषित है और उसका शोषण कर रही व्यवस्थाएं कितना क्रूर है और उनके खिलाफ संघर्ष कितना कठिन है, संयुक्त राष्ट्र ने इसे भांप लिया था। इसलिए उसने 75 से 85 तक पूरे दस साल महिला के नाम तय कर दिए। 1995 में चीन में विश्व महिला सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें यह संकल्प दोहराया गया कि दुनिया भर में महिलाओं को हर क्षेत्र में समानता का दर्जा दिया जाए और समाज को, दुनिया को उनके रहने लायक बनाया जाए। इसलिए अब तक संपन्न सभी महिला सम्मेलनों का स्लोगन रहा - 'समानता, विकास और शांति।'

स्त्री-अधिकार और नारी-सत्ता के भाव के तहत लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में नारी मुक्ति तथा देह की आजादी का प्रश्न बढ़-चढ़ कर उठाया है। कतिपय बोल्ट महिला कथाकारों ने बंधनमुक्त साहचर्य, दांपत्येतर संबंध, एकल परिवार और कुंवारी मां की पैरवी की है। पूछा है कि औरत को अपने शरीर के मन-मुताबिक इस्तेमाल का हक क्यों नहीं होना चाहिए? सबने माना कि बेशक हक होना चाहिए, लेकिन अधिकांश विदुषियों ने स्त्री-पुरुष के साथ चलने और आपस में सामंजस्य बिठाने को श्रेयस्कर बताया।

प्रभा खेतान ने अपनी पुस्तक 'उपनिवेश में स्त्री' में स्पष्ट लिखा है कि संघर्ष, प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता में पड़ने के बजाए स्त्री-पुरुष का साथ-साथ रहते हुए अपनी पहचान के साथ जीना सीखना होगा। परिवार अब भी स्त्री की सबसे मजबूत जमीन है। इसका यह आशय नहीं है कि पति-पत्नी आंखें मूंदकर निरंतर शोषित, उपेक्षित होती रहे या अपने करिअर और भविष्य को दांव पर लगाकर अपनी इच्छाओं का दमन करती रहे।

कथाकार पल्लवी पाटीदार ने अपनी कहानी में एक महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया है। पति-पत्नी का एक ही पद पर प्रमोशन होता है, पत्नी से कहा जाता है कि पति के प्रमोशन के लिए उसके हित में वह साक्षात्कार में उपस्थित न हो लेकिन पत्नी इस प्रस्ताव को सिर से नकार देती है। कहती है- 'योग्यता के बल पर जो चुना जाएगा, वह पद और प्रमोशन का हकदार होगा।' यदि पति के चुने जाने पर मैं खुश हो सकती हूं तो मेरे चुने जाने पर पति को भी खुश होना चाहिए।

लेखिका मनीषा ने अपनी किताब 'हम सभ्य औरतें' में लिखा है कि पुरुष ने पूजा, अर्चना, व्रत, त्योहार का जिम्मा भी पत्नी पर डाल रखा है। हमारे यहां पुरुष पति नहीं देवता बना हुआ है।

वह सहयोगी नहीं पूजनीय है। अच्छा वर पाने तथा पति की बेहतरी के लिए जितने भी व्रत-उपवास हैं, वे सब पत्नी के खाते में हैं। एक बार लोकमान्य तिलक से पूछा गया कि अच्छा वर पाने के लिए महिलाएं गौरी-व्रत रखती हैं, लेकिन अच्छी पत्नी पाने हेतु पुरुष के लिए कोई व्रत का प्रावधान क्यों नहीं है? तिलक का जवाब था, 'संसार की सब स्त्रियां अच्छी हैं, समस्या तो पुरुषों को लेकर है। इसलिए स्त्री को ही ऐसा व्रत रखना पड़ता है।'

मनीषा ने पुरुष की उस संकुचित और भेदभावपूर्ण सोच की ओर भी इशारा किया है जिसके अंतर्गत धर्मस्थलों में औरत का प्रवेश या धार्मिक केंद्रों के पदों पर उसकी नियुक्ति वर्जित है। कुछ दिन पहले दक्षिण भारत की अभिनेत्री जयमाला की इस स्वीकारोक्ति के पश्चात कि 18 वर्ष पूर्व उसने सबरीमाला मंदिर में प्रवेश किया था, त्रावणकोर देवस्थानम द्वारा इसकी छान-बीन चल रही है और सही सिद्ध होने पर उसे दंडित करने की कार्यवाही की जाएगी। मस्जिद में भी महिलाओं के प्रवेश पर प्रतिबंध है। ईश्वर की बनाई हुई चीज को ईश्वर से ही दूर रखने की कोशिश है यह। अजीब और शर्मनाक तर्क दिया जाता है कि महिलाओं के प्रवेश से पुजारियों, मौलवियों और भक्तों की एकाग्रता भंग होती है। तात्पर्य यह कि पुरुष की कामुक दृष्टि की सजा औरत को दी जा रही है और उसे इस आधार पर अछूत मानकर अपमानित किया जा रहा है।

युवा होती बेटियों पर किस तरह शिकंजा कसा जाता है और उन्हें अपना आकाश तलाशने से रोका जाता है, इसे चित्रित किया है अलका सरावगी ने अपने उपन्यास 'कोई बात नहीं' में। इसमें एक जगह दादी कहती है- 'वह जमाना खराब था। बिना मिर्च-मसाले का खाना लड़कियों को मिलता था, ताकि उनका मासिक देर से शुरू हो, नहीं तो ब्याहने की हड़बड़ी मच जाती थी। लड़की में स्त्रियोचित गुण भरने की प्रक्रिया उनके बचपन से ही शुरू हो जाती है- धीरे बोलो, धीरे हँसो, घर का काम-काज और चौका-चूल्हा करना सीखो, दूसरों की खुशी का ख्याल रखो, भले ही अपना मन मारना पड़े।

बाजारवाद के चलते विज्ञापन की दुनिया में स्त्री-देह का जमकर दुरुपयोग हो रहा है। उत्पादक अपने माल के प्रचार-प्रसार के लिए अधनंगी मॉडलों तथा अभिनेत्रियों की तस्वीरें दिखा रहे हैं। औरत के शरीर और उसकी छवि से मीडिया और विज्ञापन वाले अंधाधुंध कमाई कर रहे हैं। मडिया कभी विरोध में खड़ा भी होता है तो उसके नग्न दृश्य के साथ। स्टिंग ऑपरेशन भी करता है तो अपमानित औरत को ही होना पड़ता है। यह उसी पुरुष द्वारा किया जा रहा है, जो घर में बीवी और बहू-बेटी को तो पर्दे में रखना चाहता है, लेकिन घर से बाहर जिसे बिकनी वाली औरत चाहिए, जो उसकी देह-पिपासा को शांत कर सके और बाजार में उसके ब्रांड को बेच भी सके। सुधा अरोड़ा की कहानी 'देह धरे को दंड' पुरुष के अंदर मौजूद शैतान की पाशविक वृत्तियों को बड़ी तल्खी से उजागर करती है। जब भी पुरुष किसी युवती को देखता है तो उसकी आंख में सुअर का बाल उग आता है। कहानी में एक हिम्मतवर लड़की विशाखा पुरुष के इस घिनौने रूप के विरुद्ध विद्रोह कर देती है और खुद को परोसने से साफ इनकार कर देती है।

ममता कालिया ने अपनी कहानी 'बोलने वाली औरत' में नारी के नैसर्गिक गुणों को नष्ट करने की चेष्टाओं का कच्चा-चिट्ठा पेश किया है। अपनी कहानी 'उश्रदारी' में मैत्रेयी पुष्पा ने औरत के

अबलापन को धत्ता बताते हुए एक लाचार सी लगनेवाली शोषित-पीड़ित विधवा स्त्री के उठ खड़ा होने और अपनी संपत्ति हड़पने वाली जेठ-जेठानियों को कोर्ट तक घसीटकर ले जाने का साहस दिखाया है।

कथा-लेखिकाओं ने समय की नब्ज पर उंगली रखते हुए स्त्री विमर्श के इतर रचनाएं भी की हैं। बेशक ऐसी कहानियों की संख्या बहुत सीमित है। सुधा अरोड़ा के एक कहानी-संग्रह 'काला शुक्रवार' बाबरी मस्जिद ढहाए जाने के हादसे पर केंद्रित है तथा 'जानकीनामा' मुंबई के दंगों में गुम हुई एक नौकरानी की लड़की की विचारोत्तेजक कहानी है। उनकी एक कहानी 'रहोगी तुम वही' में लेखिका ने स्त्री को निराश और पराजित न होने तथा निरंतर संघर्षरत रहने की प्रेरणा दी है। इस कहानी में एक मां अपनी बेटी को कहती है - 'सुन मेरी बच्ची! अपनी कटी हुई उंगलियां न फैलाना उस बनानेवाले के सामने कि पिछली बार तुझे बनाते समय उसने जो भूल की थी, उसे सुधार ले। फिर-फिर औरत! सौ जन्मों तक औरत! तब तक औरत, जब तक मेरे हिस्से का आसमान, तेरे नाम न कर दिया जाए।'

बलात्कार मानवता का भीषण अपमान और नारी जीवन की घोर त्रासदी है। महिला कथाकारों ने इस दारुण त्रासदी को बड़ी सूक्ष्मता से पहचाना है और बड़ी गंभीरता से उसके परिणामों और प्रभावों को चिन्हित किया है। प्रभा खेतान के एक चर्चित उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में एक लड़की प्रिया का बलात्कार उसका सगा भाई ही करता है। प्रिया की उम्र साढ़े नौ साल की थी। भाई का क्रूर खेल प्रिया के कॉलेज जाने तक जारी रहा। पिता की असमय मृत्यु ने उसका बचपन छीन लिया था। उसके हिस्से में पूरे परिवार की उपेक्षा और तिरस्कार ही रह गए थे।

आठवें और नवें दशक की उपन्यास-लेखिकाओं ने समय की नब्ज पर उंगली रखते हुए वृहत्तर समाज के विभिन्न दरीचों में झांका है और पुरुषों के चरित्र को कई कोणों से खंगालने की कोशिश की है। 'कलिकथा वाया बाइपास' अलका सरावगी का एक बहुचर्चित उपन्यास है। बाइपास को प्रतीक बनाकर उपन्यास इस युग की विडंबना को किशोर बाबू के बाइपास ऑपरेशन के माध्यम से उजागर करता है, जो अंततः उन्हें उन्हीं चीजों की ओर ले जाता है, जिन्हें उन्होंने अब तक बाइपास कर रखा था। हमारे सामने कई बार कई तरह के अवरोध आते हैं और हम उनसे जूझने की बजाय बाइपास करके निकल जाते हैं।

चर्चित उपन्यास लेखिका मधु कांकरिया ने सामाजिक विद्रुपताओं को केंद्रित कर कई सशक्त उपन्यास लिखे हैं। अपने पहले उपन्यास 'खुले गगन के लाल सितारे' में मधु ने कथा नायक इंद्र के माध्यम से नक्सलवाद आंदोलन और उसके दमन के लिए चलाए गए पुलिस यंत्रणा की गहरी शिनाख्त की है। उपन्यास एक जगह नायक के द्वंद्व को चित्रित करते हुए कहता है - 'मार्क्स और विवेकानंद उसे आपस में कुश्ती लड़ते दिखाई पड़ते हैं। समझ में नहीं आता कौन सत्य है। मार्क्स ने अंतरात्मा को बुरी तरह नकारकर, वर्गशत्रु का सफाया कर बेहतर न्याय और समानता पर आधारित वर्गविहीन समाज की परिकल्पना की। विवेकानंद ने उद्घोषणा की- एवरी सोल इज पोर्टेंशिएली डिवाइन अर्थात् हर आत्मा में दिव्यता की संभावना है। नीत्से ने घोषणा की, ईश्वर मर चुका है। टालस्टाय ने कहा कि आदमी मां-बाप के बिना जीवित रह सकता है पर ईश्वर के बिना नहीं। मधु

का एक उपन्यास 'पत्ताखोर' नशीली दवाओं के शिकार युवाओं की जिंदगी में झांकने के बहाने हाथरिक्शा चालकों, कुलियों, मुटियागीरों, खोमचावालों, फेरीवालों आदि की त्रासदी को उकेरने का प्रयास करता है। लेखिका ने अपना चौथा उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' में घर से विरक्त होकर साधु बन जाने वालों पर लिखा है और जैन धर्म की विकृतियों को बड़ी निर्भीकता से रेखांकित किया है।

'आवां' चित्रा मुद्गल का एक बहुपठित उपन्यास है। इस उपन्यास की नायिका नमिता के भीतर उसके लकवाग्रस्त पिता का मूक स्नेह उसमें निरंतर एक ऊर्जा संचरित करता है। त्रासद कार्यस्थल की वजह से उसके नौकरी छोड़ने के एक साहसिक निर्णय ले लेने पर नमित को स्लेट पर लिखकर पिता अपनी प्रतिक्रिया देते हैं - 'मुझे खुशी है कि तुमने पहली बार अपने विषय में स्वतंत्र निर्णय लिया, विवेक जाग्रत रखना। मैं तुमसे हरगिज नहीं पूछूंगा कि तुम वहां नौकरी क्यों नहीं करना चाहती? निश्चित होकर सो जाओ, नए भोर की प्रतीक्षा में, जिसे कोई सूर्य नहीं स्वयं आदमी गढ़ता है।' इस उपन्यास में एक अन्ना साहब हैं जो बलात्कार का एक नया निकृष्ट स्वरूप पेश करते हैं। अत्याचार के ऐसे शातिर अदृश्य पक्ष की अभिव्यक्ति एक सधी हुई कलम से ही संभव हो सकता था।

'यारों के यार' नामक प्रसिद्ध उपन्यास में कृष्णा सोबती ने ऑफिस की यांत्रिकता को भोगते हुए मध्यवर्गीय पुरुषों का जीवंत चित्रण प्रस्तुत किया है। ऑफिस भवानी बाबू की जिंदगी पर इस तरह छा गया है कि वे व्यक्ति न रहकर यंत्र बन गए हैं। बेटे की मृत्यु जैसी हृदय विदारक घटना भी उन्हें फाइलों की छाया से मुक्त नहीं कर पाती। जितनी बार रुमाल से आंखें पोंछते हैं, बेटे के लहलुहान सिर पर किसी मनहूस फाइल का पन्ना चिपका दिखता है।

महिला साहित्यकारों की दृष्टि कुछ ऐसे बिंदुओं की ओर भी गई है जिससे पुरुष लेखक प्रायः उदासीन रहे हैं। वरिष्ठ लेखिका महाश्वेता देवी ने नक्सलवाद जैसे ज्वलंत विषय को उठाया है अपने एक उपन्यास '1084वें की मां' में। इस उपन्यास का नायक व्रती नक्सलवादी है। देश में अलग-अलग ध्येयों को लेकर एक बहुत बड़ा वर्ग है जो हिंसा और विनाश के पथ पर चल रहा है। कौन हैं वे लोग जो इन युवकों के कानों में विध्वंस का मंत्र फूंककर स्वयं सुरक्षित हो गए और इन्हें झोंक दिया हत्या और रक्तपात की भट्ठी में? वर्तमान व्यवस्था से व्रती जैसे लोग असंतुष्ट हैं। मुनाफाखोरों, तस्करों, भ्रष्टाचारियों, बेइमानों, गद्दारों से व्रती का विश्वास उठ गया है और इसी अविश्वास ने उसे बागी बना दिया है। ये व्यवस्था में बदलाव चाहते हैं लेकिन वह बदलाव सिर्फ अपने लिए नहीं बल्कि व्यापक जनहिताय हो। महाश्वेता ने स्थापित किया है कि खून खराबा और हिंसा बदलाव का रास्ता नहीं हो सकता।

नई कहानी के दौर से ही हिंदी कहानी में प्रेम को एक मौलिक और लौकिक उपस्थिति के रूप में स्वीकृति दी गई। एक ओर यदि कहानी ने स्त्री शरीर के प्रति उदासीनता और उससे जुड़े अपराध-बोध से अपने को मुक्त किया, वहीं शरीर और मन के कृत्रिम विभाजन को भी समाप्त किया। नई कहानियां प्रेम में शरीर की अबाध स्वीकृति की कहानियां हैं। इसी अर्थ में वह हिंदी में प्रचलित स्त्री-चिंता का प्रस्थान बिंदु भी है। इधर की कहानी में स्त्री अपने मन और शरीर के फैसले खुद करती है। उसके लिए किए गए फैसले जब-तब पितृसत्ता के वर्चस्व वाली सामाजिक संरचना से टकराते

हैं। इसकी प्रतिक्रिया में जहां-तहां पितृसत्ता का प्रेम विरोधी निरंकुश रूप भी सामने आता है। सारे सामाजिक-पारिवारिक अवरोधों को झेलकर पूर्ण विश्वास और स्वेच्छा से किए जाने वाले इस समर्पण को यह स्त्री कितना महत्व देती है यह उषा महाजन की 'इस बार' कहानी में महसूस किया जा सकता है। एक उनतीस वर्ष की युवती अपने अतीत और पति नितिन की यादों से मुक्ति के लिए ध्रुव के संपर्क में आती है। ध्रुव का अपना परिवार है - पत्नी रत्ना है, जवान बेटी है और एक छोटा बेटा है लेकिन फिर भी एक लांग ड्राइव पर जाते हुए उसके सम्मोहन में डूब जाती है और उसके प्रति समर्पण को आतुर हो उठती है।

भारतीय समाज में, घर से बाहर निकलने पर, पुरुषों से स्त्री के संपर्क की सुविधाएं बढ़ी हैं और संकोच की दीवारें टूटी हैं। कॉलेज, विश्वविद्यालय, कार्यालय, पर्यटन- सब कहीं इस बढ़ते हुए संपर्क को लक्षित किया जा सकता है। इंदिरा राय की 'कुछ सोचता नहीं' पर्यटन के बीच पनपे ऐसे ही संबंधों की कहानी है। गुजरात की अनुपमा उत्तर प्रदेश के नवीन के संपर्क में आती है त्रिगुणी नारायण की यात्रा में और उनके बीच अनायास, अप्रत्याशित और एक तात्कालिक संबंध बन जाता है जो समुद्र में उठी लहर की तरह क्षण भर को उसे भिगोकर लौट जाता है। कभी-कभी यह क्षण भर का आनंद पूरे जीवन को एक उल्लास से भर देता है।

आज की हिंदी कहानी में स्त्री कहानीकारों की अनेक पीढ़ियां सक्रिय हैं। नई कहानी के दौर की कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, मालती जोशी, मृणाल पांडेय आदि आज भी लेखन से जुड़ी हैं। इन लेखिकाओं से कहानी सीढ़ियां चढ़ती हुई आगे मृदला गर्ग, सूर्यबाला, मेहरुन्निसा परवेज, शशिप्रभा शास्त्री, मैत्रेयी पुष्पा, मधु कांकरिया, लवलीन, गीतांजलिश्री, कविता, अल्पना मिश्र, जया जादवानी, महुआ माजी, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पंखुरी सिन्हा तक आती हैं। इन सभी लेखिकाओं ने प्रेम के लिए एक बेहद बुरे और विरोधी समय में उसके पक्ष में खड़े होकर उसे बचाने की वकालत की है। भूमंडलीकरण के निहितार्थ से लेकर सांप्रदायिक उन्माद के विरुद्ध उत्कट संघर्ष तक सब कुछ उनकी कहानियों की दुनिया में मौजूद है। प्रेम और स्त्री-प्रश्न न उनके लिए हाशिए के सवाल हैं और न ही एकमात्र वह कुछ जो और चीजों के प्रति उन्हें उदासीन बनाता हो। कहानियों की उनकी बड़ी और व्यापक दुनिया में जहां राजनीतिक और सामाजिक तमाम विसंगतियां और द्वंद्व शामिल हैं वहीं स्त्री और प्रेम भी उनका एक हिस्सा है। महिला कहानीकारों की कहानियां होने पर भी उनकी सीमा सिर्फ महिला जीवन तक ही सीमित नहीं है।

अभी कुछ दिन पूर्व एक महिला लेखन पर आधारित सम्मेलन में मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्रियों की आजादी की चर्चा करते हुए बहुत रोचक और बोल्ड टिप्पणी की। स्त्रियों में आए खुलेपन का इजहार करते हुए उन्होंने कहा कि वैसी परंपरा और संस्कृति जो औरत को गुलाम बनाती है, उसके अधिकारों का कई स्तरों पर हनन करती है, उसे एक उपभोग की वस्तु का दर्जा देती है, मैं उसे नहीं मानती और ऐसी संस्कृति को खारिज करती हूं। दूसरी स्थापना उन्होंने दी कि कोई औरत अगर अपने पति में मित्र की छवि नहीं देखती और उसे अपने पति से मनोवांछित सहयोग नहीं मिलता तो वह किसी दूसरे पुरुष को सहयोगी बना सकती है और ऐसा करने में उसे कोई संकोच करने की जरूरत नहीं है। आगे उन्होंने यह भी कहा कि औरतों को तीन चीजों ने बहुत आजादी दी है, वे हैं गर्भ निरोध

की गोलियां, मोबाइल और रसोई गैस। यहां मैत्रेयी के निहितार्थ से स्त्री चेतना में आई एक नई करवट को सहज ही समझा जा सकता है। अब स्त्री लेखन ने अबला, पराश्रित, पराधीन, दासी, शापित आदि से खुद को ऊपर उठाकर एक नया माडरेट स्वर देने में सफलता पाई है।

और अंत में रंजना जायसवाल की एक कविता जिसमें सतत गतिशील रहने और गंतव्य तक पहुंचने की दृढ़ इच्छाशक्ति समाई है-

‘मैं नदी हूं/ रास्ता बनाना जानती हूं/ उतर आती हूं ऊंचे पहाड़ों से/ टकेल देती हूं/ शिलाओं को / गिरती हूं/ ऊंचे प्रपातों से/ वनो और कंदराओं में/ भूल जाती हूं रास्ता/ पर रुकती नहीं/ बढ़ती रहती हूं निरंतर / कोई नहीं आता/ मुझे राह दिखाने/ रास्ता खुद बनाती हूं/ और अपने बनाए/ रास्तों से पहुंचती हूं समुद्र तक।’



(लेखक सुप्रसिद्ध कथाकार हैं)

फिर से प्रेमचंद

सुवास कुमार

भारतीय साहित्य में देशीयता के सबसे बड़े लेखकों में प्रेमचंद अन्यतम हैं। उनकी रचनाएं लोक जीवन की जीवंत धड़कनों से भरी हुई हैं मगर वहां राष्ट्रीयता की परिधि को लांघकर विश्वजनीन जीवन से जा मिलने का भी सहज उपक्रम है। प्रेमचंद के कथा साहित्य की सार्थकता उसके मानवीय होने में है। उनकी रचनाएं अपने समय की गहन संपृक्ति में होकर भी अगले समयों तक पहुंचने की कुव्वत रखती हैं। कथा को सभ्यता और संस्कृति के 'फैक्ट' और 'फिक्शन' को साथ लेकर चलना होता है। अपने समय की सामाजिक सच्चाइयों को प्रेमचंद यथार्थवादी शिल्प में रचते हैं।

साधारण लेखक अपने समय का होता है लेकिन बड़ा लेखक अपने समय के साथ-साथ अगले समय का भी होता है। प्रेमचंद का अपना समय उनकी रचनाओं में अच्छी तरह उपस्थित है। समय की रचनात्मक उपस्थिति केवल समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में नहीं होती, हालांकि कई आलोचक इस बात को सबसे अधिक महत्व देते हैं। साहित्य वस्तुतः समाजशास्त्र और इतिहास की अपेक्षा ज्यादा बड़ा काम करता है। कलाकार अपने समय की मानवीय धड़कनें पकड़ता है। प्रेमचंद ने यह काम बड़ी खूबी से किया है। हिंदी आलोचना में सबसे ज्यादा विवेचित होने वाले कथाकार हैं प्रेमचंद, लेकिन उनका यह अधिकांश विवेचन बहुत कुछ एकांगी ढर्रे पर हुआ है। प्रेमचंद के कथा साहित्य का अध्ययन जितना समाजशास्त्रीय मूल्यों की खोज के संदर्भ में हुआ है उतना कलात्मक मूल्यों के संदर्भ में नहीं। प्रेमचंद की लोकप्रियता का कारण अकेले उनके समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक दस्तावेज-जैसा होने में नहीं। प्रेमचंद की शिल्प-शैली भी उस तरह की सीधी-समतल-सरल रेखा में चलने वाली भी नहीं जैसा कि आम तौर पर उसे बताया जाता है। गौर करने से पता चलता है कि प्रेमचंद की परवर्ती रचनाओं की हर पंक्ति में बंकिम भंगिमाएं हैं और उनमें गहरी व्यंजकता है। वास्तव में उनकी रचनाओं में प्रामाणिकता और कलात्मकता परस्पर घुले-मिले हैं।

प्रेमचंद की भाषा-शैली और शिल्प की बिलकुल निजी पहचान है। वे भारतीय जनजीवन से जिस रूप में स्वयं को जुड़ा हुआ महसूस करते थे, वह संबंध उनकी रचनाओं में उतर आया है। प्रेमचंद का चित्रण यथार्थवाद की यूरोपीय परंपरा से हटकर भी है-- हम चाहें तो यथार्थवाद की अपनी भारतीय और प्रेमचंदीय कोटि बना सकते हैं। हिंदी के कई आलोचक एक विशेष किस्म के यथार्थ, जीवन-दृष्टि और विचारधारा के आधार पर कथासाहित्य के 'जेनुइननेस' की पहचान करते हैं : वे न

केवल ताल्लस्ताय बनाम काफका और प्रेमचंद बनाम जैनेन्द्र-अज्ञेय जैसा बंटवारा करते हैं, बल्कि ऐसी बंधी दृष्टि पर नाज भी। अपनी ऐसी अद्भुत विश्लेषण-क्षमता से, अपने ही तरीके से वे हिंदी के कथा-कुल में अलग-गोला करवा कर अपनी रोटी सेंक रहे हैं-- चाहे साहित्य का इससे कितना ही बुरा क्यों न होता हो।

यह तथ्य है कि हिंदी साहित्य में यथार्थवादी और प्रगतिशील लेखन की अवधारणा विकसित करने में प्रेमचंद के कथा साहित्य का सर्वाधिक योगदान है। प्रेमचंद का विश्वास था कि, लेखक या तो देखा हुआ लिखता है या जो लिख रहा है उसे कभी अवश्य देखेगा। (प्रेमचन्द : घर में, पृ. 88) अर्थात् लेखन वास्तविक, सामाजिक स्थितियों और लेखक की कल्पनाओं और स्वप्नों से संबंधित होता है। वैसे यह है कि प्रेमचंद की कथात्मकता वर्तमान के ठोस अस्तित्व और उसकी सार्थकता से गहरे जुड़ी है और उनमें वायवीय, किशोर या रूमानी कल्पनाएं और प्रौढ़ सामाजिक साम्य के बड़े स्वप्न नहीं मिलते, क्योंकि ज्यादातर वे जीवन की उपयोगी, वास्तविक जमीन पर ही खड़े मिलते हैं। इससे उनका लेखन प्रामाणिक और विश्वसनीय बनता गया।

अपने जमाने की जनविरोधी राजनीति का सर्वग्रासी कुरूप चेहरा देखकर प्रेमचंद ने उसका विरोध करना अपने लेखन का लक्ष्य बनाया था। इस दृष्टि से उनका समस्त लेखन राजनीतिक लेखन था, यद्यपि वे किसी विचारधारा-विशेष या दल-विशेष के भीतरी आदमी नहीं थे। सिर्फ अंग्रेजों की शोषक राजनीति के ही वे विरोधी नहीं थे, बल्कि स्वदेशी राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ी पार्टी के सुविधाजीवी नेताओं के भी कटु आलोचक थे। हमारी आज की राजनीति के चेहरे का बड़ा हिस्सा भी प्रेमचंद के जमाने के राजनीतिक चेहरे से मिलता-जुलता लगता है। 1933 में प्रेमचंद ने अंग्रेजी हुकूमत की राजनीति को इस रूप में देखा था-- 'ब्रिटिश राजनीति की कुछ ऐसी चालें होती हैं जो साधारण आदमी की समझ में नहीं आतीं। समय पर बात पलट जाना, हरेक बात को स्थिति की दशा तथा अवसर को रबड़ की तरह खींचकर उसका अपने मन के अनुकूल अर्थ लगा लेना और घोर अन्याय और अत्याचार को भी न्याय तथा दयालुता की दुहाई से रंग देना, यह ब्रिटिश राजनीति की ही विभूति प्रसाद, तत्परता तथा महत्ता है।' कहना न होगा कि हमारे कतिपय वर्तमान राजनीतिक दल उस जनविरोधी ब्रिटिश राजनीति से प्रभूत मात्रा में विभूति और प्रसाद ग्रहण कर चुके हैं। इस संदर्भ में किया गया प्रेमचंद का संघर्ष आज के रचनाकारों के लिए प्रेरक हो सकता है। इसके साथ ही आज के रचनाकार को सावधान रहते हुए अपनी कला को एकायामी और स्टीरियोटाइप होने से बचाने के लिए भी संघर्ष करना पड़ेगा।

प्रेमचंद की भाषा बाहरी घटनाओं पर निर्भर रहते हुए उनके भीतर से अपनी अर्थवत्ता प्राप्त करती चलती है लेकिन आज के रचनाकार को बाह्य घटना-निर्भरता अपरिहार्य प्रतीत नहीं होतीं-- बल्कि जहां घटनाएं हैं भी तो वहां वह अपनी भाषा को जीवन के गूढ़तम और वृहत्तर आशयों तक पहुंचाने की कोशिश करता है। इस तरह वह अपने लेखन को बहुआयामिता प्रदान करता है। प्रेमचंद की घटना-निर्भरता इस कारण थी कि एक सजग-सक्रिय पत्रकार होने के कारण भी वे मनुष्य की स्थूल सामाजिकता को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया करते थे। उनके आदर्शयुक्त यथार्थवाद की अवधारणा में उनके रचनाकार और पत्रकार इन दोनों ही रूपों का समन्वय देखा जा सकता है।

प्रेमचंद का लेखन सुविधा का, सुविधा में या सुविधा के लिए नहीं था। वे हमेशा खुद को ऐसा

मजदूर बताते थे जिसके हाथ में फावड़े की जगह कलम थी। उन्होंने कठिनाइयों से भरा यह रास्ता जानबूझकर, सोच-समझकर अख्तियार किया था। उन्होंने अंग्रेजों की बंधी-बंधाई नौकरी छोड़ी थी, अलवर रियासत की ओर से आई हुई मोटी तनखाह की पेशकश ठुकराई थी। ऐसा भी नहीं था कि प्रेमचंद की मानसिकता परंपरागत (सामंती) संस्कारों के प्रभाव से पूरी तरह से मुक्त रही हो। रचनाकार के व्यक्तित्व और कृतित्व में अंसगतियों का पाया जाना कोई अजूबा नहीं और वे प्रेमचंद में भी मिल सकती हैं। जमींदार परिवार में बेटे के लिए वर तय करना और लड़की दिखाने से इनकार करना, दामाद के द्वारा आगे की पढ़ाई के बारे में सलाह मांगे जाने पर उस पर कानून पढ़कर वकालत करने के लिए दबाव डालना आदि बातें उनकी व्यवहार-बुद्धि की परिचायक होती हुई भी उनके लेखन की संगति में नहीं हैं। दूसरी ओर देश सेवा और राष्ट्र-निष्ठा के नाम पर वे अपनी नौकरी और प्रतिष्ठा तक की जरा भी परवाह नहीं करते थे। यहां तक कि बीस आने रोज के हिसाब से उन्होंने गोरखपुर में खादी कपड़ों के बंडल लेकर फेरी लगाने का काम भी किया। उन्हें कोई खास चिंता नहीं होती थी कि घर में प्रायः ही पधारते रहने वाले अतिविशिष्ट अभ्यागतों को बिठाने के लिए ढंग की कुर्सी नहीं थी लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि प्रेमचंद अभावों में संतुष्ट रहने वाले जीव थे। वे रूस वालों की इस बात के लिए तारीफ करते थे कि उन्होंने क्रांति के बाद अपनी स्थिति उन्नत बना ली थी। धर्म के मामले में उनके विचार क्रांतिकारी थे। उनका कहना था कि- 'मेरी समझ में नहीं आता कि हिंदू धर्म किस पर टिका हुआ है।' कबीर की तरह वे खुद को न हिंदू न मुसलमान मानते थे।

प्रेमचंद ने जीवन के विविध क्षेत्रों के बारे में विचार-मंथन किया था और अपने मंतव्य प्रकट करते रहे थे। वे स्त्रियों को पुरुष से बड़ा समझते थे; दोनों में समानता चाहते थे और स्त्रियों के अधिकारों के प्रबल समर्थक थे- हालांकि स्त्रियों के नौकरी करने के खिलाफ थे। इस संबंध में उनका कहना था कि- 'जरूरत इस बात की है कि स्त्रियां शिक्षित हों और उनके साथ-साथ स्त्रियों को वह अधिकार मिल जाए जो सब पुरुषों को मिले हुए हैं। जब तक सब स्त्रियां शिक्षित नहीं होगी और सब कानून-अधिकार उनको बराबर मिल जाएंगे, तब तक महज बराबर काम करने से ही काम नहीं चलेगा।' (प्रेमचंद : घर में, पृ. 192) स्त्री-समस्या को वे पुरुषों से अलग बांट कर नहीं देखते थे और समझते थे कि 'समाज से लड़ने के लिए स्त्रियां कितनी विवश है, उससे कम विवश पुरुष नहीं हैं।' वे स्त्री-पुरुष को परस्पर पूरक के रूप में मानते थे। उनका साफ-साफ कहना था, 'जब स्त्रियां अपने को पुरुषों से अलग समझने लगेंगी तो याद रखो, संसार भयंकर हो जाएगा।' (वही पृ.137, 122) प्रेमचंद यद्यपि अपनी समझ और कला का निरंतर विकास करते गए, तथापि उनमें कोई निश्चित और व्यवस्थित विचारधारा ढूंढ पाना नामुमकिन है और इस बात में प्रेमचंद की कला की जीत है लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि आलोचकों को अपने-अपने विचार प्रेमचंद पर आरोपित करने का मौका खूब मिला। कलाकार एक व्यवस्थित और सुसंगत विचारधारा लेकर ही रचना में प्रवृत्त हो, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं होती। हां, उसे मनुष्य और मानवता के सौंदर्य और क्षमता में गहरी आस्था होनी चाहिए, जो प्रेमचंद में थी। यही कारण है कि उनके साहित्य में जीवन के सौंदर्य, सच्चाई, गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करने का भरा पूरा माद्दा है और यही बात उन्हें बड़ा लेखक बनाती है। उन्होंने जीवन को उसकी समस्त परिवेशगत पृष्ठभूमि में देखा है : घर-परिवार, गांव-समाज, शहर, सबके

चित्रण उन्होंने किए हैं। उन्होंने किताबों से नहीं, जीवन से अपने कथानक लिए हैं - हालांकि वे स्वीकारते हैं कि 'कथा का ढंग' उन्होंने ताल्लसताय, रोमां रोलां और रवींद्रनाथ से सीखा।

साहित्य आरंभ से ही प्रेमचंद का अपना स्वाभाविक क्षेत्र रहा था। उनका विश्वास था कि, जब तक यहां के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सबके सब ज्यों-के-त्यों पड़े रहेंगे। साहित्य इन तीनों चीजों की उत्पत्ति के लिए एक बीज का काम देता है। साहित्य और समाज तथा राजनीति का संबंध बिल्कुल अटल है।' (वही पृ.69) जैनेंद्र कुमार का कहना था कि- 'प्रेमचंद समाज के निदान में उतरते हैं, उसकी आत्मा की गहराई में नहीं' और यह भी कि उनमें जितनी सामयिकता है उतना 'तथ्यावगाहन' नहीं। अगर प्रेमचंद उस काम को अंजाम नहीं दे पाए जिसकी ओर जैनेंद्र कुमार ने संकेत किया है तो उसके कारण हैं। पहली बात तो रचनाकार की प्रवृत्ति, रुझान और मानसिकता की है। हिंदी साहित्य के जिस ऐतिहासिक क्षण में प्रेमचंद उपस्थित हुए थे उस समय यह संभव है कि प्रेमचंद को भौतिक प्रश्नों को छोड़ देना उचित नहीं लगा हो, या फिर इतना वक्त ही नहीं मिला हो कि वे सामयिक प्रश्नों की उपेक्षा कर जीवन के दूसरे गहरे और गूढ़ रहस्यों में प्रवेश करते। जैनेंद्रजी को यह भी शिकायत थी कि प्रेमचंद के पात्र 'खानाबंद आदमी' हैं, अर्थात् उनमें पर्याप्त खुलापन नहीं है। विष्णु प्रभाकर को प्रेमचंद से यह शिकायत रही है कि उनमें गहन अनुभूतियों का अभाव है- 'उनको पढ़ते समय मन को संतोष होता है, सुख होता है पर किसी गहन अनुभूति से हम तिलमिला नहीं उठते, लेकिन प्रेमचंद की परवर्ती रचनाएं, यहां तक कि उनकी अनेक कहानियां, जैसे- 'आत्माराम', 'ईदगाह', 'सद्गति', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफन' आदि, इस बात का प्रतिवाद करती लगती हैं। वैसे इस बात में सच्चाई है कि प्रेमचंद को नगर-जीवन की जटिलताओं में जाने का अवसर नहीं मिला। एक और बात है कि प्रेमचंद की मानसिकता में एक प्रकार का 'देहातीपन' है। पश्चिमी तौर-तरीकों और शिक्षित आधुनिक युवा वर्ग के प्रति वे नकारात्मक रुख रखे हुए मिलते हैं। हालांकि उनमें अपने समाज और संस्कृति के प्रति आत्मालोचन का भाव मिलता है, फिर भी वे पश्चिम की तुलना में अपनी सभ्यता और संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं। वे किसान और मध्यवर्गीय भारतीय जीवन के विशेष रूप से कथाकार थे और उनकी सीमाएं प्रायः इन वर्गों की सीमाएं भी हैं। ये दोनों वर्ग व्यक्तिगत सम्पत्ति के त्याग की कल्पना भी नहीं कर सकते। प्रेमचंद अपने केंद्रीभूत विषय या समस्या से सीधे जुड़ने वाले चरित्रों के परे का दृश्य कभी नहीं देखना-दिखाना चाहते और अपने दृष्टि-पथ की सीमा सदैव बनाए रखते हैं। फलतः उनके परिवेश का बहुत-कुछ छूट जाने का खतरा भी बना रहता है। परवर्ती काल में फणीश्वरनाथ रेणु-जैसे रचनाकार ने प्रेमचंद की इस सीमा से सबक लेकर परिवेश को उसकी व्यापकता और समग्रता में देखने की कोशिश की।

एक साहित्यिक के लिए आत्मालोचन वह अनिवार्य गुण है जिससे उसका लेखन समय का साथ देता चलता है; वह खुद का मांजता और तरोताजा होता रहता है। प्रेमचंद ऐसे जनपक्षधर लेखक थे जिसे गुलाम देश में रहते हुए दोहरी भूमिका निभानी पड़ रही थी: एक ओर वे अंग्रेज शासकों के विरोधी थे तो दूसरी ओर अपने देश के लोगों की बुरी आदतों की भी कड़ी आलोचना करते थे। लखनऊ में वायसराय के आगमन पर स्वागत में चालीस हजार रुपयों की आतिशबाजी की गई थी जिसे देखने के लिए लोगों का हजूम उमड़ पड़ा था। प्रेमचंद इसे देश की जनता के पैसों का विरोधी

शासन द्वारा किया जाने वाला अपव्यय तो मानते ही थे, इस बात का उन्हें दूना रंज था कि लोग इस घरफूंक तमाशे पर खुश हो रहे थे। वे शिवरानी देवी के आगे बार-बार अपनी खीझ प्रकट करते रहते थे कि, 'बहुत दिन लग जाएंगे हिंदुस्तानियों को अपनी मनोवृत्ति बदलने में। क्योंकि इधर वे कोई 500 वर्ष से गुलामी में रह चुके हैं, तुम क्या समझती हो कि उनकी आत्मा 10-20 साल में सुधर जाएगी। अगर यहां के सभी आदमी जिम्मेदार ही होते तो इस तरह का मुल्क न होता। हमारी इसी कमी से सरकार राज्य कर रही है। मुट्ठी-भर अंग्रेज पैंतीस करोड़ आदमियों पर राज्य करें इसके माने क्या हैं? हममें चरित्रबल, आत्मबल कुछ भी नहीं है, (वही, पृ. 50 और 117) प्रेमचंद का यह आत्मालोचन आज की परिस्थितियों में भी उतना ही प्रासंगिक है। आज हालांकि देश आजाद हो चुका है, फिर भी आजादी का सकारात्मक लाभ लठाने की बजाय देश भ्रष्टाचार में आंकठ डूब रहा है। ऐसा चौतरफा भ्रष्ट आचरण प्रेमचंद सहन नहीं कर सकते थे।

उस जमाने के लेखक अपने सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति कम गंभीर नहीं थे। स्वतंत्रचेता प्रेमचंद जब फिल्मों के लिए लेखन करने के निमित्त बंबई गए थे तब भी अपने लेखन-संबंधी दायित्वों के प्रति पूरी तरह सचेत थे। वे बच्चों को अपने साथ नहीं ले गए क्योंकि वे पढ़ाई कर रहे थे और प्रेमचंद ने बंबई में उनका नामांकन इसलिए नहीं कराया कि इस तरह वे उस जगह से बंध जाते। उनका सोचना सही था क्योंकि कुछ ही दिनों में उन्होंने पाया कि वहां जो कुछ था वह वैसे मालिक लोगों के हाथों में था जो सिर्फ कमाना जानते थे और जिनकी नजरों में लेखक का कोई महत्व नहीं था। प्रेमचंद यह मानते थे कि लेखक का काम जनता का नेतृत्व करना है मगर साथ ही उन्हें इस बात का एहसास भी था कि उस पर पब्लिक और गवर्नमेंट दोनों का दबाव होता है- पब्लिक मारने की धमकी देती है और गवर्नमेंट जेल में डालती है। स्वाभिमानी प्रेमचंद पूछते हैं कि क्या इससे डरकर लेखक लिखना बंद कर दे? आखिर लेखक भी कोई चीज है। उसका भी अस्तित्व है। वह जो कुछ लिखता है अपनी कुरेदन से ही।

प्रेमचंद में संघर्ष का भाव बहुत था। वे अपने संपर्क में आने वाले लोगों से बराबर काम करने, बुराइयों से लड़ने की बात किया करते थे। वे मजदूरों से भी ज्यादा खटते थे, यह बात उनके विपुल मात्रा में लिखे गए साहित्य से भी अच्छी तरह प्रमाणित होती है। वस्तुतः वे एक ही साथ दो सिरों से जलने वाली मोमबत्ती की तरह थे जो जल्दी भले बुझ गई मगर रोशनी भरपूर दे गई। मुक्तिबोध जैसे अनेक जाने-माने परवर्ती हिंदी (तथा अ-हिंदी) साहित्यकारों के वे जाने-अनजाने प्रेरणास्रोत बने। नए लेखकों से मिलने के लिए प्रेमचंद हमेशा तैयार रहते थे, क्योंकि उन्हें पता था कि साहित्य की बागडोर उन्हीं के हाथों सुरक्षित रहेगी। वे मानते थे कि नए रचनाकारों का मार्गदर्शन करना उनके-जैसे वरिष्ठ लेखकों की जिम्मेदारी थी। वे अतिवादी नहीं थे। बुद्ध के मज्झिम निकाय की तरह भारत का मध्य वर्ग ही उनकी राह था। प्रेमचंद का साहित्य हमें नैतिक और मानवीय बनाता है। उनकी उदार मानवीयता की जद में मनुष्य की तो बात क्या, तमाम तरह के जीव-जंतु, पशु-पक्षी भी आ गए हैं। गाय, बैल, कुत्ता, तोता आदि तो उनकी कई रचनाओं में प्रमुख पात्र की भूमिका में भी आए हैं। प्रेमचंद भोले-भाले और मूक प्रणियों के केवल पक्षधर ही नहीं, बल्कि भोलेपन के सौंदर्य को कथा में रचने वाले अद्भुत लेखक भी हैं चाहे वह भोला-भाला किसान-मजदूर हो, बालक-बालिका हो अथवा कोई अन्य प्राणी। प्रेमचंद ने कई रचनाओं में किसानों मजदूरों, बच्चों और पशु-पक्षियों को आपस में

संजीवनी से बतियाते और दुःख-दर्द बांटते दिखाया है। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने उनके प्राणी मात्र से प्रेम होने की बात करते हुए लिखा है कि जाड़े के दिनों में खुद तो कंबल ओढ़ते थे मगर घोड़े की दुशाला ओढ़ाते थे। पत्नी की नजरों में प्रेमचंद एक संत लेखक थे। हरिशंकर परसाई ने अपने व्यंग्य लेख 'प्रेमचंद के फटे जूते' में प्रेमचंद की मानसिकता का बढ़िया विश्लेषण किया है।

हमें भारतीय परंपरा के श्रेष्ठ अवदानों से जोड़ने का काम प्रेमचंद बिना किसी शोर-शराबे के करते हैं। वे स्वदेशी के भक्त थे, स्वदेश और स्वराज के प्रेमी थे। स्वदेश पर गर्व था, लेकिन यह गर्व मिथ्या नहीं था। अपनी कमजोरियों से वे वाकिफ थे। वे बड़े आत्मालोचक भी थे और अंग्रेजों के गुणों से सीख लेने को कहते थे। 1934 में भी प्रेमचंद की मान्यता थी कि जो आदमी जितनी ही अपनी जरूरत बढ़ाता जाता है, वह उतना ही ज्यादा अपनी गुलामी की बेड़ियां मजबूत करता जाता है। प्रेमचंद के जीवन और चिंतन का प्रभाव उनकी लेखिका पत्नी शिवरानी देवी पर गहरा पड़ा था, जिन्होंने यथासंभव तटस्थता बरतते हुए प्रेमचंद- जैसे कलाकर के मानस और व्यवहार की गतिविधियां प्रस्तुत की हैं : उनकी व्यक्तिगत कमियों और खामियों पर संयमित आलोचनात्मक नजर डाली है। यह आजकल के उन रचनाकार दंपतियों से अलग ढंग का प्रयास था क्योंकि आज के लोग तो अपने नितांत निजी कपड़े भी सार्वजनिक रूप से धोते नजर आते हैं।

क्या भूमंडलीकरण के इस दौर में अंग्रेजी और अंग्रेजी के व्यापक प्रभाव का मुकाबला प्रेमचंद के देशी हथियार से किया जा सकता है? क्या आज एक बार फिर से प्रेमचंद तक पहुंचना पुरागमिता होगी? क्या यह चिंता का विषय नहीं है कि हम अपनी उस देशी पहचान और विरासत को धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं जिसकी तरह प्रेमचंद और रेणु-जैसे लेखकों ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया था? आज हमारी अस्मिता के जितने टुकड़े जाति, उपजाति, आदि के आधार पर होते जा रहे हैं, वैसी जटिल सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक समस्याएं प्रेमचंद के जमाने में नहीं थीं। आज जटिलाताएं बढ़ती ही जा रही हैं और लेखक का कार्य कठिनतर होता जा रहा है। फिर भी, आज के संदर्भ में भी, प्रेमचंद के अल्पसंख्यकों, दलितों और स्त्रियों के संबंध में विचार अवश्य ही महत्वपूर्ण हैं। ये विचार पर्याप्त या पूर्ण नहीं कहे जा सकते लेकिन यह बहुत अस्वाभाविक भी नहीं हैं। आज अगर प्रेमचंद मौजूद होते तो अवश्य ही उनकी रचनात्मक इस बदली हुई स्थिति को भी सफलतापूर्वक समेट लेती, इससे संदेह नहीं क्योंकि प्रेमचंद हमेशा अपने वर्तमान में सक्रियता से उपस्थित रहने वाले रचनाकार थे। ऐतिहासिक रूप से देखा जाए तो प्रेमचंद हिंदी कथा साहित्य में नई चेतना लाने वाले लेखक थे लेकिन उनके कथाशिल्प का एक खास ढंग था और परवर्ती साहित्य में जिससे भिन्नता का होना लाजिमी था। प्रेमचंद के आकर्षण और व्यापक स्वीकृति का एक कारण उनके द्वारा वस्तु एवं रूप के प्रति अतिवादी दृष्टियों का परिहार भी रहा है लेकिन आज के लेखकों को प्रेमचंद के शिल्प से विचलन करते हुए दूसरे रास्तों की तलाश करनी पड़ेगी। सच पूछा जाए तो हिंदी कथा साहित्य में प्रेमचंद-जैसा लिखने वाला कोई भी कथाकार नहीं मिलता। कोई उनकी नकल भले ही कर ले, किंतु नकल से कोई दूसरा प्रेमचंद, रेणु, परसाई या श्रीलाल शुक्ल नहीं बन सकता। ऐसा इसलिए संभव नहीं है क्योंकि इन सारे कलाकारों ने अपनी-अपनी कला की समस्त संभावनाओं को पूरी तरह से निचोड़ लिया है। अतएव, वही रचनाकार सफलता पा सकता है जो अपनी अलग राह निकाल सकता हो। प्रेमचंद से सीखते हुए प्रेमचंद से अलग और आगे की चीज लिखना आज के

लेखक के लिए जरूरी है।

बीसवीं सदी के हिंदी लेखन में भारतीय जीवन- खासकर ग्रामीण जीवन-‘गोदान’ ‘मैला आंचल’, ‘परती: परिकथा’ और ‘रागदरबारी’ में विशेषतः जीवंत रूप में उपस्थित किया गया जो इस बात का द्योतक है कि प्रेमचंद के जमाने से भिन्न स्थितियों को प्रेमचंद की कला से भिन्न कला में रचने की आवश्यकता महसूस की गई। तमाम भिन्नताओं के बावजूद प्रेमचंद के समय और कला से आज के हालात और लेखन में कुछ समानताएं भी मिलें तो अचरज नहीं होना चाहिए। प्रेमचंद के चित्रण में एक प्रकार की सर्व-भारतीयता है, यानी उनका एक अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य बनता है। मनुष्य ही प्रेमचंद के लेखन की लक्ष्य था और मनुष्य से उनका संबंध निरा बौद्धिक न होकर आत्मीय था। उसकी रचनाएं केवल हिंदी साहित्य के मानस को ही नहीं, व्यापक सामान्य जन-मानस को भी आंदोलित करती रही हैं। यह देखना रोचक होगा कि गांधी की तरह प्रेमचंद ने भी लेखकीय आचरण का अपना देशी ‘माडल’ तैयार किया था।

प्रेमचंद के देहांत के पश्चात् देश-दुनिया और साहित्य में बहुत-कुछ बदला है। ये बदलाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही प्रकार के हैं। प्रेमचंद से हमारा संवाद ही नहीं, वाद-विवाद भी होता रहा है और हो रहा है। प्रेमचंद के अंतर्विरोधों पर चर्चा और आंदोलन भी हुए और हो रहे हैं जो उनकी प्रामाणिता और जीवंतता की ओर भी इंगित करते हैं। आज की परिस्थितियों में प्रेमचंद से ग्रहण करने को बहुत कुछ है। खुद प्रेमचंद को भी इस बात का एहसास हो रहा था कि उनके लेखन से एकरसता जैसी चीज पैदा हो सकती थी। इस बात से उन्हें असंतोष था और इस संदर्भ में उन्होंने जैनेंद्र कुमार को लिखा भी था कि ‘मैं पुराना हो गया हूं और पुरानी शैली निभाए जाता हूं। कथा को बीच में से शुरू करना या इस तरह शुरू करना कि उसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाए यह मेरे लिए मुश्किल है।’

आज यथार्थवाद के विभिन्न रूप हो गए हैं, यहां तक कि जादुई यथार्थवाद भी सामने आ चुका है। संभव है बहुतां को प्रेमचंद इस उत्तर-आधुनिक परिदृश्य में पुराने लगने लगे हों मगर वे चुके नहीं हैं। उनकी प्रासंगिकता अब भी बरकारार है। प्रेमचंद के पूर्व हिंदी-उर्दू का कथा-साहित्य या तो खालीपन (जिसमें, बकौल साहिर लुधियानवी, न कोई जादह ‘न मंजिल, न रोशनी का सुराग’ ही था) या लगभग अतिनाटकीयता का शिकार था। प्रेमचंद ने धीरे-धीरे सधे हाथों से उसे यथार्थवादी बनाया। उन्होंने हिंदी कथा-साहित्य में जिस यथार्थवादी परंपरा की नींव डाली, परवर्ती काल में भी उसमें विकास की संभावनाओं के बीज देखे जाते रहे। प्रेमचंद ने जब लिखना आरंभ किया था उस समय यूरोप में यथार्थवाद प्रकृतवाद से अलग हो चुका था जबकि हिंदी कथा-साहित्य में उस वक्त स्वैर-कल्पना, तिलिस्म और ऐयारी वाले शिल्प का प्राधान्य था। प्रेमचंद के अपने यथार्थवाद का स्वभाव सामाजिक और आलोचनात्मक रहा, फिर भी उनका शिल्प अतिनाटकीय, अस्वाभाविक एवं अलौकिक तत्वों से रहित नहीं कहा जा सकता। यह बात विशेष रूप से ‘निर्मला’ और ‘कायाकल्प’ उपन्यासों के मद्देनजर कही जा सकती है। आज हम जानते हैं कि तथ्यात्मक चित्रण से अलग अतिनाटकीय और अलौकिक के चित्रण से भी रचना से विशिष्ट अर्थ निकाले जाते हैं। प्रोफेसर फ्रांचेस्का ऑर्सीनी ने ‘कायाकल्प’ के अध्ययन में ऐसे अर्थ-संधान की दिशा में एक अच्छी कोशिश की है। प्रेमचंद के आरंभिक जमाने में तिलिस्मी-ऐयारी के साथ-साथ ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास भी थे जो पाठकों को

अतीत-गौरव में पहुंचाते थे। अनबुझ तृष्णा और लालसा की व्यर्थता, पर साथ ही आदर्श के लिए संघर्ष के भाव को दिखाने के लिए 'कायाकल्प' में प्रेमचंद पुनर्जन्म, अलौकिकता, विज्ञानकथा, अतिनाटकीयता आदि को मिलाकर अपने ही यथार्थवादी ढांचे को अतिक्रमित करना चाहते हैं। दरअसल इसे प्रेमचंद की कला-विषयक बेचैनी और उनकी प्रयोगधर्मिता के संदर्भ में देखने की जरूरत है।

प्रासंगिकता अतीत की सार्थकता और वर्तमान की अर्थवत्ता का द्वंद्वात्मक संबंध होती है। उसकी एक कसौटी लोकप्रियता भी हो सकती है। प्रेमचंद अब भी लोकप्रिय हैं तो इसका मतलब है कि वे अब भी प्रासंगिक हैं। आज प्रेमचंद के जमाने की कुछेक बातें अपना पुराना औचित्य खो चुकी हैं, जैसे प्रेमचंद संयुक्त परिवार के विघटन के जिस दर्द को लेकर 'बड़े घर की बेटी' और 'अलगयोझा'-जैसी रचनाएं लिख रहे थे, उसका पैनापन अब काफी भोथरा हो चुका है। इसके बरक्स फणीश्वरनाथ रेणु 'संवदिया' कहानी के माध्यम से क्षीण पडते जा रहे जिस सामंती मूल्य को बचाकर रखना चाहते हैं, वह महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। फिर भी प्रेमचंद की कला में ऐसा खुलापन भी मिलेगा जिसके अर्थापन की सही दिशा का चुनाव आगामी समय कर सकता है। मुक्तिबोध इसीलिए प्रेमचंद के कथा साहित्य को एक बहुत बड़ा नैतिक प्रभाव डालने वाला तथा उदार और उदात्त नैतिकता की तलाश की प्रेरणा देने वाला मानते थे। यह प्रेमचंद की कला का खुलापन ही है जो 'नमक का दरोगा', 'आत्माराम', 'नशा', 'सद्गति', 'पूस की रात', 'कफन', 'मुक्तिमार्ग', 'शतरंज के खिलाड़ी'- जैसी कहानियों को नए अर्थ-संदर्भों से भर देते हैं।

हालांकि आज की परिस्थितियों में प्रेमचंद से ग्रहण करने को बहुत कुछ है, फिर भी यह सच है कि अकेले प्रेमचंद संपूर्ण नहीं होते-जैनंद्र, अज्ञेय, यशपाल, रेणु, श्रीलाल शुक्ल, नागार्जुन, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा-जैसे अनेक कथाकार प्रेमचंद से अलग होकर भी उनके साथ-साथ खड़े हैं। प्रेमचंद के रहते हुए भी ये कथाकार बड़े हैं और उतने ही जरूरी हैं। यह सच है कि प्रेमचंद हिंदी कथा साहित्य के उदय-शिखर हैं, लेकिन उनके बाद भी आलोक प्रखरतर हुआ, इसमें संदेह नहीं।



(लेखक कथाकार और आलोचक हैं)

कौन हर ले गया हमारे जनसरोकार

अरुण कुमार त्रिपाठी

पिछले दिनों एक बड़े मीडिया समूह के संपादक से किसी की पैरवी करते समय बात इस टिप्पणी के साथ टूट गई कि, 'यार तुम तो अभी भी आदर्शवाद का पुराना राग अलाप रहे हो। अब मीडिया बहुत बदल गया है और आने वाले दिनों में और भी बदलेगा। अब किसी को जनसरोकार, विचारधारा निष्पक्षता और ज्ञान नहीं आदेश को लागू करने और टीम के साथ जुटकर काम करने की आवश्यकता है। आप अगर वैसा करके दिखाएंगे और समय के साथ बदलेंगे तो संस्थान में रहेंगे और तरक्की करेंगे नहीं तो बाहर हो जाएंगे।' संयोग से जिन सज्जन की पैरवी की जा रही थी वे अपने जनसरोकारों से लिए जाने जाते हैं और संभवतः यही वजह थी कि लंबे समय से उन्हें दरकिनार करके रखा जा रहा था। वे लगातार कुठित होते चले जा रहे थे उसी तरह जिस तरह मीडिया में जनसरोकारों की जगह सिकुड़ती जा रही है लेकिन विडंबना यह है कि जिन सज्जन से पैरवी की जा रही थी वे भी अपने जनसरोकारों के लिए जाने जाते थे।

यह मात्र एक नमूना है। मीडिया में व्यक्ति और विचार के स्तर पर जनसरोकारों को लगातार धकियाकर हाशिए पर लगाया जा रहा है। ऐसा इसलिए तो हुआ ही कि पत्रकारिता अब मिशन से प्रोफेशन बन गई है, साथ ही इसलिए भी हुआ कि ग्रोथ अब सामाजिक न्याय से ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई है। इसी के साथ यह भी सही है कि मीडिया के व्यवसाय में अब जैसे पूंजीपति और उद्यमी आ रहे हैं जिनका मकसद पत्रकारिता के माध्यम से समाज और सत्ता के रिश्तों के बीच हस्तक्षेप से कहीं ज्यादा आर्थिक लाभ और पक्षपाती राजनीतिक ताकत हासिल करना है। जिस क्रोनी कैपिटलिज्म यानी याराना पूंजीवाद की चर्चा हो रही है पत्रकारिता भी उसी का हिस्सा बन गई है। पूंजीपति यह सब (धन और सत्ता) इसलिए तो हासिल ही करना चाहते हैं कि वह अपने आप में साध्य है लेकिन इसलिए भी करना चाहते हैं कि वह अपने में साधन भी है। साधन इसलिए क्योंकि चिटफंड और कांस्ट्रक्शन के व्यवसाय से जुड़े उद्यमियों के पास बेहिसाब धन आया है और मीडिया में उस धन से तेजी से लाभ तो कमाया ही जा सकता है साथ ही उसके माध्यम से उस धन की रक्षा भी की जा सकती है जिस पर कहीं सेबी की निगाहें लगी हैं तो कहीं आयकर, पर्यावरण कानून और तमाम सुरक्षा संबंधी नियमों के चलते अदालत की तलवार लटकती रहती है। पिछली सदी के आखिरी और इस सदी के पहले दशक में जिस तरह मीडिया व्यवसाय का विस्फोट हुआ उस पर आई दो कित्ताबों ने उसकी व्यावसायिकता और कथ्य पर काफी कुछ कहा है। एक कित्ताब राबिन जेफरी

की 'इंडियाज न्यूजपेपर रिवोल्यूशन' (भारत की समाचार पत्र क्रांति) है तो दूसरी शेवंती नाइनन की 'हेडलाइन्स फ्रॉम हार्टलैंड' है। पहली किताब व्यावसायिक पक्ष के विस्तार और उसमें दाखिल होते नए उद्यमियों और उसकी आर्थिक संभावनाओं के बारे में है तो दूसरी किताब समाचारों की इस क्रांति में जनता के छूटते मुद्दों की है।

इस बदलाव के साथ अच्छी बात यह हुई है कि भारत में लोगों की बढ़ती साक्षरता दर के साथ अखबार पढ़ने और टीवी देखने की आदत बनी है और लोगों में जागरूकता का स्तर बढ़ा है। इसी के साथ अखबारों की अभिजात्यता भंग हुई है। अब अखबार में हर गली और मोहल्ले की खबरें छपती हैं और मनुष्य ही नहीं उसे पशु पक्षियों को भी समाचार बनने का गौरव हासिल होता है। समाचार पत्रों और चैनलों में एक प्रकार की स्थानीयता आई है और उसका प्रादेशिक और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य गायब हुआ है। इससे समाचारों की संख्या तो बढ़ी है लेकिन उसकी ताकत घटी है यानी जनसरोकारों का जहां क्षैतिज विस्तार हुआ है वहीं उनकी गुणवत्ता में सतहीपन आया है और उसकी ऊंचाई प्रभावित हुई है। बल्कि यूं कहें कि जनसरोकारों का दायरा जनशिकायतों तक आ गया है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। एक तरफ जनसरोकारों का रिश्ता चैनलों की टीआरपी और अखबारों के प्रसार से जुड़ा है तो दूसरी तरफ विज्ञापन के लिए सौदेबाजी और सत्ता से फायदा लेने तक गया है। यहां हिंदी के मूर्धन्य संपादक बाबू राव विष्णुराव पराड़कर की वह मसीहाई उक्ति याद आती है जिसमें उन्होंने कहा था-- 'आने वाले समय में अखबार रंगीन स्याही में अच्छे कागज पर छपेंगे। उनकी साज सज्जा बहुत सुंदर होगी। संपादकों की मोटी तनखाहें होंगी लेकिन उनकी वैसी स्वायत्तता नहीं होगी जैसी आज है।'

निश्चित तौर पर आज संपादकों की बढ़ती सुविधाएं उसकी स्वायत्तता की विलोमानुपाती हो गई हैं। उसे जितनी सुविधाएं दी जा रही हैं उतना ही उसके निर्णय के दायरे में हस्तक्षेप बढ़ रहा है। वह जितनी तेजी से परनिर्भर होता जा रहा है उतनी ही तेजी से जनसरोकारों से विमुख। अब जनसरोकार उसके लिए एक मुखौटा हो गया है या विश्वसनीयता बचाए रखने की एक रणनीति बनकर रह गया है। इस बीच जो घटना सबसे ज्यादा चिंताजनक हुई है वो यह कि जितने अच्छे संपादक थे वे सब मालिक बन गए हैं और जितने अच्छे मालिक थे वे संपादक हो गए हैं। भूमिकाओं की इस अदला-बदली के कारण मीडिया के सरोकारों में काफी उथल-पुथल हुआ है। इसी के साथ जितने क्षेत्रीय स्तर के संपादक थे वे राष्ट्रीय स्तर के हो गए हैं और तमाम राष्ट्रीय स्तर के पत्रकार या तो क्षेत्रीय हो गए हैं या मीडिया से बाहर हो गए हैं।

संपादकों की घटती स्वायत्तता और अखबारों व चैनलों में बढ़ती पूंजी जनसरोकारों पर व्यावसायिक सरोकारों को वरीयता दे दी है। जहां वे दोनों नहीं टकराते वहां जनसरोकारों को जगह मिल सकती है लेकिन जहां वे टकराते हैं वहां जनसरोकारों को चुप होना ही पड़ता है। मीडिया में जिस सार्वजनिक स्थल की कल्पना की गई है वह लगातार विशिष्ट स्थल बनता गया है। उस पर कभी फिल्मी कलाकार, कभी सफलता पाने वाले सेलीब्रिटी, तो कभी विशिष्ट राजनेता हावी हो गए हैं। जनता की समस्याएं उस समय चर्चा में आती हैं जब उन्हें उठाने के लिए कोई आमिर खान, कोई अमिताभ बच्चन या कोई राजनेता आगे आता है। अगर वैसा नहीं होता और वह किसी कारपोरेट से प्रायोजित नहीं होता तो सामाजिक सरोकार आगे आ पाना मुश्किल होता है। एक प्रकार से

सार्वजनिक सरोकार प्राइवेट और पब्लिक की पार्टनरशिप का मामला हो गया है। वह कारपोरेट सोशल रिस्पांसिबिलिटी का मामला हो गया है। वह एनजीओ का मामला हो गया है लेकिन सीधे मीडिया का अपना मामला नहीं है। मीडिया अगर सोशल इवेंट करता है तो उसके पीछे उसकी ग्राहकी बढ़ाने और विज्ञापन बटोरने का इरादा रहता है।

मीडिया को पत्रकारिता के लिए वैसे लोग चाहिए जिनके लिए करिअर और वेतन अहम हो और सामाजिक सरोकार गौड़ हो। या उनके लिए सामाजिक सरोकार का अर्थ वह बने जो उसे कारपोरेट घराने में बताया जाए। ऐसे में सत्तर और अस्सी के दशक की तरह अब वे लोग पत्रकार नहीं बन रहे हैं जो किसी राजनीतिक और सामाजिक आंदोलन से निकले हों और पत्रकार बनने के बाद भी जिनमें समाज को बदलने और व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन करने का जज्बा बाकी हो। वे लोग आज पत्रकारिता के लिए खतरनाक माने जाते हैं। उनकी चेतना कारपोरेट चेतना और हितों के विरुद्ध जाती है क्योंकि वे कंपनी के हितों से ज्यादा समाज के हितों के बारे में सोचते हैं। कभी कई बड़े समूह के अखबारों में आंदोलन से निकले लोगों का स्वागत के साथ प्रवेश होता था आज उनके प्रवेश पर प्रतिबंध लगा हुआ है। चैनल तो वैसे लोगों से और भी दूर भागते हैं। एक वरिष्ठ पत्रकार एक मीडिया समूह के भवन में प्रवेश संबंधी एक विचित्र घटना का जिक्र करती हैं। भीतर जाने के लिए जब रिसेप्शन पर कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा कि सभी से मिलना है। उनकी यह बात सुनकर रिसेप्शनिस्ट चौंक गई। उसने पूछा कि यह कैसे हो सकता है कि कोई सभी से मिलने जा रहा हो। इस पर उनका जवाब था कि जब यहां ढेर सारे मित्र हैं तो सभी से मिलने में क्या बुराई है। यह घटना कई साल पुरानी है लेकिन तब स्थितियां बदलने लगी थीं और अब तो वे शायद ही किसी से मिलने जाएं क्योंकि न तो वहां वैसे लोग हैं न ही वैसी आजादी।

‘दुल्हन वही जो पिया मन भाए’ की तर्ज पर आज जनसरोकार वह हो गए हैं जो मुख्यधारा का मीडिया बताए और मुख्यधारा का मीडिया वही बताएगा जो कारपोरेट हित और उसके इशारे पर चलने वाली सत्ता तय करे। जनसरोकारों की पारंपरिक परिभाषा बदलने की शुरुआत तकरीबन 25 साल पहले ही हो गई थी लेकिन विगत दस सालों में उसे तेजी से बदलने के प्रयास किए गए। दलील दी गई कि पत्रकारिता और विशेषकर भाषाई पत्रकारिता तभी चल सकती है जब वह पारंपरिक जनसरोकारों से चिपके रहने की बजाय अपने नए सरोकार बनाए और पुराने सराकारों को नए प्रकार से परिभाषित करे। सरोकारों की इस स्थिति पर प्रसिद्ध पत्रकार पी साईनाथ का वह चर्चित उदाहरण बेहद सटीक बैठता है कि जब आंध्र प्रदेश और विदर्भ में किसान आत्महत्या कर रहे थे तो बड़ी संख्या में पत्रकार और फोटोग्राफर मुंबई के फैशन शो को कवर करने के लिए टूटे पड़ रहे थे। संयोग से उनका रुख उधर तब बना जब स्वयं प्रधानमंत्री ने विदर्भ जाने का फैसला किया। इसी तरह की एक घटना उस समय भी घटी जब एक दशक पहले गुड़गांव में होंडा सिटी के हड़ताली कर्मचारियों पर पुलिस ने जबरदस्त लाठीचार्ज किया। उस समय अपने सरोकार छोड़ रहा हिंदी का एक राष्ट्रीय दैनिक उस समाचार को प्रथम पृष्ठ पर स्थान देने को लेकर जबरदस्त दुविधा में रहा। संयोग से जब वह खबर दूसरे अखबारों में समुचित स्थान पा गई तो उस अखबार को भी अपने फैसले के अपराध बोध से मुक्ति मिली। इस सदी का आरंभिक दशक तीव्र तरक्की के प्रचार और किसानों और मजदूरों की समस्याओं को अनसुना करने का रहा है। मीडिया ने अपने भीतर के कर्मचारियों की समस्याओं की

उपेक्षा से लेकर समाज के विभिन्न क्षेत्रों में आम आदमी की समस्याओं को दबाने और छुपाने का संकल्प कर लिया था। ट्रेड यूनियनों, वामपंथी दलों और समाजवादी विचारों की खबरें या तो कूड़ेदान में फेंकी जाने लगीं या फिर वे तब स्थान पाती थीं जब उनके बारे में कोई नकारात्मक घटना घटी हो। अकसर जनांदोलन की खबरों और किसानों मजदूरों की खबरों को तभी जगह मिलती थी जब हिंसा की कोई बड़ी घटना हो या फिर उनके सामूहिक आगमन से शहर की सामान्य गतिविधि में कोई बाधा उत्पन्न हो। तमाम चैनलों और अखबारों के भीतर यह निर्देश रहता है कि राष्ट्रीय राजधानी या किसी प्रांत की राजधानी में आने वाले प्रदर्शनकारियों को रास्ता जाम करने वाली बाधा के रूप में प्रस्तुत किया जाए। उनसे उनकी समस्या पर कम चर्चा की जाए और उन लोगों की दिक्कतों का ज्यादा वर्णन किया जाए जो अपने दफ्तर देर से पहुंचे या जिनका अस्पताल पहुंचना बाधित हो गया।

यह स्थिति अगर इलेक्ट्रानिक मीडिया की होती तो ज्यादा चिंता नहीं होती लेकिन यह उस प्रिंट मीडिया की भी बनी जो पिछले तीन सौ सालों से सच को उजागर करते हुए और तमाम क्रांतिकारी और राष्ट्रीय आंदोलनों का कवरेज करते हुए बड़ा हुआ था। इस दौरान तेजी से विकसित हुआ इलेक्ट्रानिक मीडिया या तो आतंकवादी और उग्रवादी हिंसा को दिखाते हुए लोकप्रिय हुआ या फिर सांप्रदायिक आंदोलनों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते हुए। इलेक्ट्रानिक मीडिया ने हद तो उस समय कर दी जब उसने भूतों प्रेतों और ग्लैमर भरे नृत्यों को समाचार की तरह पेश करना शुरू कर दिया और उसके आधार पर अपना टीआरपी बढ़ाने का दावा करने लगा। वह अपने आलोचकों पर यह कहते हुए टूट पड़ता था कि आखिर हमें भारी पूंजी से खड़ा किया गया चैनल चलाना है या देश सेवा करनी है। निश्चित तौर पर इलेक्ट्रानिक मीडिया ने देश को क्रिकेट, क्राइम, सिनेमा, ग्लैमर और फैशन के माध्यम से वास्तविक स्थितियों से भटकाने में बड़ी भूमिका निभाई और इस दौरान उन तमाम जनविरोधी नीतियों को लागू करने में बड़ा योगदान दिया जिनके चलते देश में या तो जन असंतोष के रूप में नक्सलवाद पनपा या फिर कहीं विस्थापन के विरोध में आंदोलन खड़े हुए तो कहीं पर्यावरण को बचाने वाले।

मीडिया में आज जनसरोकार कहां और किस अवस्था में हैं कह पाना मुश्किल है। वह कभी कभार पूंजीवाद के समर्थक विद्वानों के विश्लेषणों में प्रकट होता है और एक शिगूफा बनकर छा जाता है तो कभी करोड़पति आम आदमी के तौर पर उदय होता है और एनजीओ की भ्रष्ट होती संस्कृति को वैधता देकर चला जाता है। जनसरोकारों की स्थिति उस सीता की तरह हो गई है जिसे या तो रावण ने अपहृत कर लिया है और अपनी पटरानी बनाने के लिए उसे लगातार यातना दे रहा है या फिर जहां कहीं वह रावण के चंगुल से बाहर है वहां स्वयं राम उसकी कठोर अग्निपरीक्षा ले रहे हैं।

जनसरोकार और मीडिया के इस टूटते रिश्ते के पीछे जहां आर्थिक नीति जिम्मेदार है, वहीं राजनीति भी उसे तोड़ने में अर्थनीति का ही साथ दे रही है। आर्थिक नीति तमाम विफलताओं के बावजूद उन्हीं रास्तों पर चलना चाहती है जिन पर चलकर देश और दुनिया में तबाही आई है। दूसरी तरफ राजनीति या तो किसी व्यक्ति की वकालत करती है या किसी पार्टी की। वह किसी वैकल्पिक नीति की बात करती ही नहीं। अर्थनीति का जनसरोकार ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना है और वह कम होने लगे तो सरकार से राहत पैकेज हासिल करना है। अर्थनीति को पूंजी चाहिए और उससे

ग्रोथ के अच्छे आंकड़े निकलने चाहिए। उसका जनता को लाभ होता है या नहीं उससे वास्ता नहीं है। तभी तो ब्राजील के पूर्व राष्ट्रपति लूला ने कहा था कि 'अर्थव्यवस्था की हालत अच्छी है लेकिन जनता की हालत खराब है।' इसी के साथ वह पूंजी कहां से आ रही है और वह कैसी है इसकी भी उन लोगों में कम चिंता है जो अर्थनीति को चला रहे हैं। तंग श्याओ फिंग की नीति बिल्ली काली हो या सफेद इससे नहीं फर्क पड़ता है बस उसे चूहा पकड़ना चाहिए, की तरह अर्थ काला हो या सफेद उसे तो विकास करने से मतलब है। विफलता की अर्थनीति चलाने वालों का साथ उन्माद, व्यक्तिवाद, जातिवाद और परिवारवाद की राजनीति करने वाले दे रहे हैं। हकीकत यह है कि राजनीति अर्थनीति पर सवाल नहीं करती। वह अर्थनीति की सारी विफलता या तो किसी व्यक्ति पर थोप देती है या पार्टी पर। विडंबना यह है कि जब देश के आम चुनाव में अर्थनीति की विफलता के कारणों, उसके विकल्पों और उसके जनपक्ष पर सर्वाधिक बहसें होनी चाहिए थीं, तब वहां या तो व्यक्ति केंद्रित चर्चा चल रही है या फिर निजी स्तर पर व्यक्तिगत आक्षेप हावी हैं। मीडिया राजनीति की इस प्रवृत्ति की आलोचना के बहाने अपना काफी समय उस पर जाया करता है और उन तमाम मुद्दों को दरकिनार कर देता है जिनसे जनता के भविष्य का निर्धारण होने जा रहा है। मीडिया की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि वह विकल्पहीनता के सिद्धांत पर काम करता है। वह कभी नीति के स्तर पर तो कभी नेतृत्व के स्तर पर। यह जनता और जनसरोकारों का सबसे बड़ा अपमान है। ऐसा प्रदर्शन एक तरफ जनता के भीतर से उठने वाली वैकल्पिक चर्चा को दरकिनार कर देता है तो दूसरी तरफ नए विचारों के विकास की संभावना को नष्ट कर देता है।

दरअसल अर्थनीति की सारी चिंता अगर मुनाफे और ग्रोथ की है, तो राजनीति का सारा सरोकार सत्ता और सत्ता हासिल करने से है। ऐसे में मीडिया का एक हिस्सा अगर जनसरोकार के मुद्दे उठाकर विमर्श को बढ़ाने की कोशिश करता है तो उसकी आवाज कहीं दब कर रह जाती है।

मीडिया का सामाजिक सरोकार किस तरह उसकी सामाजिक संरचना से जुड़ा है उसका एक उदाहरण राष्ट्रीय स्तर एक घटना से उजागर होता है। दिल्ली में मीडिया के एक पत्रकार को जब एक पार्टी के नेता ने थप्पड़ मारा तो यह सवाल उठा कि आखिर मीडिया में दलित बिरादरी के कितने लोग हैं। उस दिन एक वरिष्ठ पत्रकार राजधानी के तमाम पत्र समूहों में फोन करके पता करते रहे और पता चला कि इक्का दुक्का लोगों के अलावा राजधानी के मीडिया में बड़े पदों पर दलित हैं ही नहीं। यह स्थिति बताती है कि मौका पड़ने पर मीडिया दलित मुद्दों के लिए कितनी संवेदनशीलता दिखा सकता है। एक बार जब इस लेखक ने हरियाणा में दलितों पर होने वाले अत्याचार के बारे में एक अखबार में धारावाहिक शुरू करने के लिए संपादक से अनुरोध किया तो उन्होंने साफ मना कर दिया। उनका कहना था कि इस तरह के विवाद में हमें नहीं पड़ना चाहिए। हालांकि यह वही मौका था जब हरियाणा में लगातार दुलीना और मिर्चपुर जैसे कांड हो रहे थे।

मानवाधिकार के सवाल पर, स्त्री अधिकारों के सवाल पर, पर्यावरण चेतना के सवाल पर, गरीबी और बेरोजगारी के सवाल पर मीडिया का ध्यान न जाना यह साबित करता है कि या तो उसके भीतर इनके प्रति कोई शिक्षण-प्रशिक्षण नहीं है या फिर उस पर ऐसा कोई दबाव है कि इन मुद्दों से बचा जाए।

आज मीडिया महात्मा गांधी के उस बयान पर बहुत चर्चा कर रहा है कि आजादी के बाद एक

दल विशेष को समाप्त कर दिया जाए लेकिन वह इस बात पर कोई बहस नहीं कर रहा है कि गांधी ने औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति और अपनी जनता के विकास के लिए किस माडल की बात की थी। यहां यह जानना जरूरी है कि विकास के मौलिक माडल की वकालत करने वाले गांधी उन तमाम लैटिन अमेरिकी देशों में प्रासंगिक हो रहे हैं जहां गुरिल्ला लड़ाई से निकली वामपंथी सरकारों ने पशु आधारित खेती और कम ऊर्जा पर आधारित परिवहन और उत्पादन की नीति अपनायी शुरू कर दी है। वे ट्रेक्टर की बजाय जानवरों से खेती करने लगे हैं और रासायनिक उर्वरकों की बजाय कार्बनिक खादों का प्रयोग करने लगे हैं। वे ही नहीं यूरोप के भी तमाम देश खाद्यान्न का पड़ोस में उत्पादन करने की नीति पर चल रहे हैं जिससे उनके लाने ले जाने पर खर्च होने वाली ऊर्जा बचेगी। बैलगाड़ी उसी कम ऊर्जा पर चलने वाली अर्थव्यवस्था का प्रतीक है।

हमारा मीडिया किस तरह दूरगामी जनसरोकारों से विमुख होकर अल्पकालिक चुनावी नारों और बाजार के मुनाफों में उलझकर रह गया है इसे हाशिए पर बैठे देश के मीडियाकर्मी मान भी रहे हैं लेकिन उनकी सुनता कौन है? पिछले दिनों जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में मास मीडिया और जनमीडिया नामक शोध पत्रिका के विमोचन के मौके पर एक कार्यक्रम में मेनस्ट्रीम के संपादक सुमित चक्रवर्ती ने साफ कहा 'हम अभीप्रतिक्रियावादी क्रांति और अंधेरा देख रहे हैं। कारपोरेट मीडिया पीएम पद के एक उम्मीदवार के पक्ष में खुलकर प्रचार कर रहा है। अखबारों पर मालिकों का सीधा नियंत्रण हो गया है। संपादक की आजादी खत्म हो गई है। आपातकाल के बाद यह दूसरा मौका है जब मीडिया जनहित की चिंता किए बिना अधिनायकवादी ताकतों के पक्ष में हुंकार भर रहा है। मुख्यधारा का मीडिया ही मुस्लिम आतंकवाद जैसी भाषा का इस्तेमाल करता है जो हिंदुत्ववादी ताकतों को देश बांटने में मदद करता है।'

दरअसल पिछले दो तीन सालों में नए सिरे से सतह पर आ रहे जनसरोकारों को न सिर्फ हाशिए पर ठेला जा रहा है बल्कि उनका कारपोरेटीकरण भी किया जा रहा है। यह अच्छी बात है कि पूंजीपतियों द्वारा सरकारी संसाधनों की लूट पर सवाल उठ रहे हैं और उन्हें किसी न किसी बहाने मीडिया में जगह मिल रही है। यह भी अच्छी बात है कि देश के कई हिस्सों में वे लोग चुनाव लड़ रहे हैं जिन्होंने देश में तमाम आंदोलन चलाए और जनसरोकार को जिंदा रखा। उनके बहाने मीडिया में जनसरोकार के तमाम मुद्दे सामने आ रहे हैं। उम्मीद है कि अगर वे चुनकर संसद में पहुंचे तो बुझ रहे जनसरोकारों की मशाल जलाएंगे। बहुत संभव है कि उनके माध्यम से विस्थापन के सवाल, आदिवासी विकास के सवाल राष्ट्रीय स्तर पर आएंगे। यह भी संभव है कि उनके माध्यम से ईमानदारी का सवाल उठे और भ्रष्टाचार का विरोध भी हो।

इसके बावजूद इस हकीकत के दूसरे पहलू भी हैं। जनसरोकार के मुद्दों और उसकी राजनीति को हड़पने का काम राजनीति और मीडिया जितनी चतुराई से कर रही है उसकी बारीक पड़ताल एक बुद्धिजीवी इस तरह करते हैं, 'यह ध्यान देने और समझने की जरूरत है कि इस अरसे में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन की परिघटना ने एक बड़ा फर्क डाला है। वह यह कि अब नवउदारवाद विरोध के पक्ष को, जो अलग अलग जगहों पर अलग-अलग मुद्दों को लेकर अलग-अलग संगठनों और व्यक्तियों द्वारा संचालित जनांदोलन के रूप में उभरा था और ज्यादातर नागरिक समाज व मुख्यधारा मीडिया की उपेक्षा के बावजूद अपनी जगह बना रहा था, नवउदारवाद समर्थकों ने उसे काफी पीछे धकेल दिया

है। इसके साथ ही नई पिछले दो दशकों में उभरकर आई वैकल्पिक राजनीति की विचारधारा और उस पर आधारित संघर्ष को मिटाने का काम भी तेज हुआ है।'

आप और मीडिया के आरंभिक रिश्तों और उसके झांसे में सामान्य व्यक्ति के फंसने के बारे में एक और टिप्पणी ध्यान देने योग्य है, 'कारपोरेट, मीडिया और नागरिक समाज की मिलीभगत से तैयार कपटजाल में दिल्ली की झुग्गी झोपड़ियों और गंदी बस्तियों में रहने वाली अधपेट, कुपोषित, अशिक्षित, मेहनतकश जनता फंस गई तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता बल्कि उसे अभी और फंसना है। बहेलिए जाल को पूरे देश में फैलाने में लग गए हैं। रातों रात तामझाम खड़ा हो गया है और उसमें शामिल होने वालों विशेष की भगदड़ मची हुई है। न्यूज चैनलों की कौन कहे, प्रिंट मीडिया के कई वरिष्ठ पत्रकार एक पार्टी के प्रचारक की भूमिका में उतर आए हैं। प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों के कुछ प्रतिष्ठित प्रोफेसर भी उनके समर्थन में लेख लिख रहे हैं।'

इसलिए मुश्किल जनसरोकारों को जिंदा रखने की तो है ही दिक्कत उसके छद्म को पहचानने की भी है। जनसरोकारों का छद्म दिल्ली के एक बड़े मीडिया हाउस में उस समय दिखाई दिया जब पत्रकारों और मैनेजरो के एक साझा कार्यक्रम में कंपनी के बुनियादी में मूल्यों में सबसे पहला मूल्य 'जनकेंद्रित' होना बताया गया। बाकी मूल्य सच्चाई, साहस और लगातार नवीकरण के थे। लेकिन उसी आयोजन में दूसरे दिन यह बताया जाने लगा कि हमें मजदूरों, किसानों, दलितों और आदिवासियों की नकारात्मक खबरें क्यों नहीं छापनी चाहिए। कार्यशाला में आखिर में यह बताया गया कि खबरें वही छापिए जो सकारात्मक हों और देश और अर्थव्यवस्था की खुशनुमा तस्वीर पेश करें। जैसे कि क्रिकेट में देश की जीत शेयर बाजार का उछाल, मध्यवर्ग के प्रोफेशनलों का उंचा वेतन, किसी इंजीनियर, डाक्टर या सेलेब्रेटी की बड़ी-छोटी उपलब्धि और किसी कंपनी की तरक्की वगैरह। उस कार्यक्रम में साफ हिदायत दी गई कि कहीं मजदूरों की छंटनी और किसानों की आत्महत्या खबरें प्रमुखता के लायक नहीं होतीं क्योंकि कहीं न कहीं मजदूरों को नौकरी मिल रही होती है और उत्पादकता बढ़ती है और आत्महत्या करने की वजह अर्थव्यवस्था नहीं किसानों की अपनी दोषपूर्ण जीवनशैली रहती है। उस कार्यक्रम में यह भी बताया गया कि हमें आने वाली नौकरियों की बड़ी खबरें और प्रस्तावित विकास परियोजनाओं की विस्तृत खबरें छापनी चाहिए और उसके लिए हो सके तो ग्राफिक्स वगैरह बनवाना चाहिए। यह वही दौर था जब पश्चिम बंगाल के सिंगुर और नंदीग्राम में किसान संघर्ष कर रहे थे और राजधानी के अखबार छाप रहे थे कि 'नैनों में बस गई नैनो', 'शेयर बाजार हुआ बीस हजारी।' हालांकि उस कार्यशाला में यह तरकीब भी बताई गई कि आम तौर पर जिस गरीब वर्ग की खबरें मुख्यधारा के मीडिया से बाहर हो चुकी हैं उन्हें कैसे और किस रूप में लाया जाए। यानी जनसरोकार कोई तस्करी का धंधा हो जिसके लिए चौकस मैनेजरो की निगाहों से बचाकर समाचारों का माल पार ले जाना है। उन्हीं दिनों मध्य भारत के हजारों दलितों और आदिवासियों के साथ जमीन के मुद्दे को लेकर गांधीवादी कार्यकर्ता पीवी राजगोपाल लंबी पदयात्रा करके दिल्ली पहुंचे थे। तभी शेयर बाजार 22 हजारी हुआ था। कई अखबारों ने उनके आगमन और गरीबों के मुद्दों को स्थान देने की बजाय शेयर बाजार को ज्यादा अहमियत थी। पदयात्रा की अहमियत यही थी कि उसने दिल्ली की शांति छीनी थी और यातायात में व्यवधान डाला था।

मुख्यधारा के मीडिया में जनसरोकारों को जगह दिलाने और उसे बाहर करने की एक जद्दोजहद

मध्य प्रदेश में 'विकास संवाद' नाम के एक संगठन के सामने भी विचित्र तरह से सामने आती रही है। यह संगठन प्रदेश के आदिवासियों और किसानों और दलितों की शिक्षा, स्वास्थ्य, कुपोषण, विस्थापन और खाद्य सुरक्षा व शिक्षा के अधिकार के संदर्भ में हर साल पांच से छह युवा पत्रकारों को फेलोशिप देता है। इसके माध्यम से विभिन्न समाचार पत्रों और मीडिया में उनके शोध प्रकाशित और प्रसारित होते हैं और साथ में युवा पीढ़ी में एक प्रकार की चेतना और सरोकार विकसित होता है। इस काम में उन्हें कभी कामयाबी मिलती है तो कभी नाकामी लेकिन उन्हें इसका एक झटका उस समय लगा जब राज्य के एक बड़े पत्र समूह के एक संपादक जो कभी जेपी आंदोलन और दूसरे आंदोलनों से जुड़े थे उन्होंने कहा कि हम इस संगठन के प्रेस बयानों को कूड़ेदान के हवाले करते हैं। जाहिर तौर पर जब स्थानीय स्तर पर जनसरोकारों को कूड़ेदान के हवाले करने की ऐसी कोशिश चल रही हो तब उन्हें फिर से मीडिया का हिस्सा बनाना कितना कठिन होता है विशेषकर तब जबकि जनसरोकारों के तमाम कार्यक्रम कारपोरेट सोशल रिसपांसिबिलिटी(सीएसआर) के तहत प्रायोजित होकर चलाए जा रहे हों।

मीडिया में जनसरोकारों की स्थिति देखकर एक तरफ आपातकाल के शासन और उसके आसपास का दौर याद आता है और दूसरी तरफ अमेरिकी महामंदी का वह दौर याद आता है जब वहां अखबारों की विश्वसनीयता घट गई थी। उस समय टाइम के मालिक हेनरी आर लूस ने शिकागो विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर हचिंस की अध्यक्षता में एक प्रेस की आजादी पर एक आयोग बनाया था जिसे पत्रकारिता की आचार संहिता बनाने का काम दिया गया था। बारह सदस्यों के इस आयोग में कोई पत्रकार नहीं था बल्कि अपने अपने विषयों के विशेषज्ञ और अकादमिक लोग थे। उन लोगों ने तीन साल तक समाज के विभिन्न तबकों के विषय साक्षात्कार के बाद अपनी 106 पेज की रपट पेश की। भारत में भी पत्रकारिता की आचार संहिता बनाने में हचिन्स की प्रेरणा रही है। यह रपट स्वाधीनतावाद से अलग सामाजिक दायित्व के सिद्धांत पर केंद्रित है जिसका मकसद प्रेस की आजादी के साथ उसे समाज के लिए जवाबदेह बनाना है। भारत में प्रेस की आजादी पर उस समय उतना अंकुश नहीं था जब संविधान बना था। उस पर अंकुश संविधान के संशोधन के बाद राज्य की सुरक्षा के बहाने लगाया गया। आज प्रेस की आजादी का इस्तेमाल जहां कारपोरेट ताकतें कर रही हैं वहीं सामाजिक दायित्व के सिद्धांत का इस्तेमाल सरकारें अपनी हिफाजत के लिए कर रही हैं। उसी बीच में कभी कभी विकीलीक्स जैसा मीडिया तमाम रहस्योद्घाटन कर देता है और भारत का सोशल से लेकर इलेक्ट्रानिक और इंटरनेट मीडिया अपने भंडाफोड़ करता है।

हालांकि तमाम नेता यह आश्वासन देने में लगे हैं, 'किसी भी पार्टी को बहुमत मिले और किसी की भी सत्ता आए लेकिन मीडिया का मुंह बंद नहीं किया जाएगा। अब देश में न तो अधिनायकवाद का खतरा है न ही आपातकाल का।' इसके बावजूद कानून की बजाय परोक्ष रूप से पूंजी के माध्यम से मीडिया को नियंत्रित करने की आशंका बनी हुई है। ऐसे में मीडिया को अपने हक की रक्षा जनसरोकारों से जोड़कर करनी होगी। जनसरोकार मीडिया के लिए रक्षा कवच भी होंगे और वही उसके मोक्षदाता भी। जनसरोकारों की हर युग में नए सिरे से व्याख्या करनी होगी। उसमें महात्मा गांधी की ताबीज सहायक हो सकती है जिसमें किसी तरह के काम में भ्रम होने की स्थिति में कतार के आखिरी आदमी का चेहरा याद करने और उसके हितों का ध्यान रखने की सलाह दी गई है। इसमें

विभिन्न अधिकारों के लिए होने वाले जनांदोलन मददगार हो सकते हैं, हचिन्स की रपट सहायक हो सकती है और दूसरे तमाम मीडिया के चिंतन भी। इस काम में अमेरिका की कमेटी फार कन्सर्नड जर्नलिस्ट की वह रपट भी सहायक हो सकी है जो इराक युद्ध में इम्बेडेड जर्नलिस्ट की अवधारणा आने के बाद जारी हुई थी। आज जरूरत जनसरोकारों के मीडिया को अपहरण और अग्निपरीक्षा दोनों से बचाने की है।

पत्रकार राजेंद्र माथुर कहा करते थे कि मीडिया को कुछ लोग जहांगीर के महल के बाहर लटका हुआ न्याय का वह घंटा मानते हैं जिसे बजाने पर शहंशाह न्याय करने बाहर निकलेगा। यह भूमिका एक तरह से ओमबुड्समैन यानी लोकपाल की है। सरकारी स्तर पर लोकपाल बन जाने के बावजूद राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेने वाले मीडिया की भूमिका बनी रहेगी। वहीं उसे विश्वसनीयता देगा और वही समाज के दुख दर्द का निवारण का माध्यम बनेगा। मीडिया के सामने अगर प्रौद्योगिकी के विकास ने अवसर दिए हैं तो नवउदारवाद के फिर से मजबूत होने और तमाम राजनीतिक और सामाजिक ताकतों के साथ उसके नए गठबंधन के साथ चुनौतियां भी पैदा हुई हैं। मीडिया के स्वामित्व और उसके लिए पूंजी जुटाने के तरीकों के बारे में भी सोचना आज के समय की जरूरत है। इस बारे में प्रेस परिषद के पूर्व अध्यक्ष न्यायमूर्ति पीबी सावंत, प्रभाष जोशी और दूसरे कई समाज के हित चितकों ने सुझाव दिए हैं। देश में सहकारिता और दूसरे तरीकों से नया मीडिया खड़ा करने की कोशिशें भी चल रही हैं। कहीं सफल हैं तो कहीं असफल। आज लगातार धुंधलाते जनसरोकार को नए सिरे से खोजने और उसे मीडिया की आत्मा के रूप में प्राण प्रतिष्ठा करने की तीव्र आवश्यकता है। देखना है कि आने वाले समय में हमारा समाज जनसरोकार रूपी इस लक्ष्य को किस रूप में और कैसे प्राप्त करता है?



(लेखक वरिष्ठ पत्रकार एवं मीडिया विश्लेषक हैं)

काशी

संजीव

भारत जैसे विशाल देश में जो जगहें हमें सबसे ज्यादा आकर्षित करती हैं, उनमें से एक है बनारस। रांड, सांड, सीढ़ी, संन्यासी की भूमि! साधुओं, अघोरियों, गंजेड़ियों, नशेड़ियों, हिप्पियों, तांत्रिकों, चांडालों, पंडों, ठगों की भूमि! विद्वानों, संगीतकारों, कलाकारों की भूमि! धर्म की भूमि! अधर्म की भूमि! बागियों की भूमि! दलालों की भूमि!

अंतर्विरोधों से भरी हुई भूमि! एक तरफ से शिवजी के त्रिशूल पर बसी दूसरी तरफ अविनाशी। काशी एक विशाल श्मशान भूमि भी है। लोग मरने के लिए, मरकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए काशी आते हैं। कभी मोक्ष प्राप्ति के लोभ में लोग काशी में खुद को आरे से चिरवाते थे जिसे 'करवत लेना' कहते थे। हिंदू परिवारों में जीवन यौवन भोग चुके वृद्धों को मरने या 'कल्पवास करने काशी भेज दिया जाता था। सबसे ज्यादा संख्या बंगाल से आई विधवाओं की होती जिनमें कई युवा विधवाएं भी होतीं ताकि उनका 'लोक परलोक' सुधरे। काशी को विश्व का प्राचीनतम शहर और तीन लोक से न्यारी भी कहा जाता है।

काशी बागियों की नगरी भी रही है। अगर यहां चार सौ साल से रखे हुए तुलसी के खड़ाऊं को घुन नहीं लगे वह कबीर की उलटबासियां भी चमगादड़ों की तरह उलटी लटकी धार्मिक पाखंडों को मुंह चिढ़ाती नजर आती हैं और रैदास की कीलें धर्म के गले में खुभी पड़ी हैं। जलो! वैसे जलाने के लिए काशी के पास 'मणिकर्णिका' और 'हरिश्चंद्र' जैसे घाट हैं। जलाने के लिए चांडाल, विद्युत या लकड़ी के शवदाहगृह भी- जैसे जलना चाहें, जलाने के मुकम्मल इंतजाम हैं। तब इतना अवश्य है कि शुल्क दिए बिना आपको जलने का अधिकार नहीं मिल सकता। राजा हरिश्चंद्र ने भी सत्य और धर्म की रक्षा के लिए अपने बेटे रोहिताश्व की लाश को जलाने के लिए अपनी ही पत्नी तारा से कफन का शुल्क मांगने में कोई मुरौब्वत नहीं की थी। ऐसे अनेक आख्यान और उपख्यान हैं। काशी सिर्फ शिवजी के त्रिशूल पर ही नहीं इन आख्यानों से भी शूलविद्ध है। यह सब स्वर्ग के अभियांत्रियों का काल चिंतन, अकाल चिंतन और महाकाल चिंतन है।

स्वर्ग यात्रा या मोक्ष संधान के लिए आए दिन तीर्थ यात्रियों की भीड़ और लाशें यहां आई रहती हैं। सीढ़ियों पर छतरियां बंदर और भिखारी और पुजारी! सीढ़ियां मंदिरों में पहुंचाती हैं, पंडों की गलियों में भटकती हैं या पहुंचाती हैं, क्या पता! जिन्हें अपने भाग्य का पता नहीं,

वे दूसरों का भाग्य बताते हैं जो खुद के पापी हैं, वे पढ़ाते हैं धर्म का पाठ।

हिंदू अंक विद्या में तीन का बहुत महत्व है- त्रिकाल, त्रिताल, त्रिदेव, त्रिलोक, त्रिहिंसा, त्रिकर्म, त्रिदोष, त्रिधारा, त्रिशरण, त्र्यंबक (त्रिनेत्र) आदि-आदि....। इसी क्रम में है त्रिशूल, तीन तरह के शूल-त्रिदेव के त्र्यंबक का त्रिशूल। इसी त्रिशूल पर बसी है अविनाशी काशी।

इस बार 16वीं लोकसभा के चुनाव के दौरान काशी एक बार फिर चर्चा के केंद्र में है। इस शवशोधक (या शवसाधक?) पुराण का वर्तमान अध्याय लिखने के लिए कई राजनीतिक दलों के प्रत्याशी काशी आ रहे हैं उनका पूर्व में कोई संबंध काशी से रहा है ऐसा पता नहीं चलता। बनारसी अखाड़े को जब लंगोटा, जंघिया पहनकर कोई पहलवान उतरकर चुनौती देता है- 'है कोई माई का लाल जो मेरा मुकाबला कर सके, तो वह डकारते हुए अखाड़े के अंदर चक्कर काटता है। सामान्यतः यह घोषणा उसके गुरु, समर्थक या रेफरी द्वारा उसकी बांह चढ़ाकर की जाती है। यहां इस भूमिका में कौन है इसका किसी को कुछ नहीं पता। इसके बावजूद काशी की जनता लोकसभा चुनाव के भारी भरकम तमाशे का आनंद लेने को विवश हैं हालांकि वह निर्णायक भी है।

काशी के लोकसभा रूपी कुरुक्षेत्र में चुनौतियां थामने को उठे हुए, जीत जाने का सपना पाले, कुछ एक हाथ, कुछेक ताल ठोंक रहे विभिन्न राजनीतिक दलों के उम्मीदवार क्या इनमें से किसी ने बनारस को भर नजर देखा भी है? वे विधवाएं, वे गंदे घाट, वे ऊपर की ओर जाती टूटी-फूटी सीढ़ियां, टूटी सड़कें, तांगे-रिक्शे, ऑटो, बस, कारों, साइकिलों, प्लास्टिक निगलते पशुओं से ठेलममेल ट्रैफिक, लूटते-ठगते मंदिर के पंडे, कुली, होटल वाले..... अनुशासनविहीन बनारस! मात्र 'बी.एच.यू.' या 'सारनाथ' ही नहीं है काशी! काशी हिंदुत्व की प्रयोगशाला रही, बुद्ध की दीक्षाभूमि भी। काशी की गंगा ही नहीं गंदगी के डबरे भी हैं, बसाती, धुआंती, बजबजाती बस्तियां भी हैं, जिनमें बुनकरों समेत दूसरे मजदूर और पेशे वाले निवास करते हैं। काशी का बुनकर उद्योग मर रहा है। डीजल इंजन कारखाना भी। कोई नया उद्योग लगने की खबर नहीं। स्वास्थ्य और सफाई की समस्या है। लोग, खैनी, गुटका, दोहरा या बनारसी सादा पत्ती जर्दे वाला पान खाकर रास्ता घाट फुटपाथ पर पच-पच थूकते पवित्र करते चलते हैं, जहां-तहां खुले में शौच करने (दिव्य निपटानी को नियामत मानते हैं।)

कथाकार विवेक मिश्र के अनुसार नतोदर धनुषाकार गंगा एक प्रत्यंचा है जिसके छूटे हुए तीर की तरह आप तो बनारस से 'जीत' या 'हार' कर दिल्ली पहुंच जाओगे राज करने, पर इस बनारस का क्या होगा। उसके उस तीर का क्या होगा जो उसे झांसा देने वालों ने उसके सीने में गाड़ रखे हैं, ठीक है कि आप में से कोई शातिर बनारस जय करके पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार तक फूल और फैल सकता है, पर आप पवित्र नगरी, मोक्षदायिनी की शाबासियां देकर इस सूरदास से रात भर भजन गवाते रहेंगे या इसकी आंखों और आंतों के लिए भी कुछ करेंगे?

गंगा सफाई के नाम पर करोड़ों डकारे गए पर गंगा आज भी प्रदूषित है। प्रदूषण बढ़ता ही जा रहा है। प्रत्यक्षतः काशी में कोई वाच टावर नहीं है। काशी अपने आप में खुद एक वाच टावर है जो अपनी तीन आंखों से हिमालय से सागर और अरुणाचल से पंजाब-गुजरात

तक को वाच करता रहता है। वाच करता रहता है कि कितने परनाले अपना-अपना उत्सर्जन प्रदूषण लिए-दिए गंगा में समा रहे हैं। मैंने काशी में गंगा आरती के भव्य समारोह में एक अलग ही नजारा देखा- ऊपर-ऊपर भव गंगा स्तुति और दीपकों का नृत्य नीचे विचरते श्वेत हंस कुछ चुगते हुए- क्या था वह? कीड़े। मेरे गंगाभक्त आज भी मानने को तैयार नहीं कि गंगा में भी कीड़े पड़ सकते हैं। और हंस सिर्फ मोती चुगते हैं। माने- तो क्या कीड़े ही मोती हैं और गंगाजल अभी भी पवित्र।

वैसे तो पश्चिमी बिहार समेत पूर्वी उत्तर प्रदेश की बहुत पहले से ही सांस्कृतिक राजधानी रहा बनारस पर अब आसन्न भविष्य में आसन्न पूर्वांचल प्रांत की राजधानी का ताज पहनना है उसे। यानी बनारस का मोक्ष!

बनारस या काशी से जुड़े ये टुकड़े-टुकड़े सच पूर्ण सत्य नहीं, फिर क्या है पूर्ण सत्य? पूर्ण सत्य यह है कि बनारस विरेचन का शहर है। अनपचे को विरेचित करता शहर है। शहरों में सबको मोक्ष नहीं मिलता। कुछ अभिशप्त आत्माएं मोक्ष से वंचित रह जाती हैं। ऐसी भटकती हुई आत्माओं के लिए यहां 'पिशाचमोचन' है जहां दूर-दूर की भटकती अतृप्त आत्माओं को एक वृक्ष पर मंत्र कीलितकर सदा के लिए उनके भटकाव का अंत कर दिया जाता है। मेरे गांव की कुछ भटकती आत्माएं एक पेड़ पर मंत्र कीलित है। अब वे किसी को परेशान नहीं करतीं।

काशी अपने रंगों-तरंगों (बूढ़ी, यंग और ठंडई) अपनी होली, दंगलों, लोक व शास्त्रीय नृत्यों और गायन, वादन के उस्तादों, गालियों, भदेस बोलियों, सांडों, भांडों के लिए ख्यात है। 'बहती गंगा' के रूद्र प्रसाद कार्तिकेय और कबीर-विशेषज्ञ शुकदेव सिंह के अलावा कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमचंद, रायकृष्णदास, धूमिल से लेकर अनेकानेक प्रतिभावान लेखकों, कवियों का शहर रहा। संस्कृति पुरुष विद्यानिवास मिश्र की भी कर्मभूमि रहा है काशी। आज की कविता के सशक्त हस्ताक्षर ज्ञानेंद्रपति, श्याम बिहारी 'श्यामल' श्रीप्रकाश शुक्ल का भी शहर है वाराणसी। काशी के नाम को ध्वनित करने वाले कथाकार काशीनाथ सिंह का शहर भी है। काशीनाथ सिंह जब कहानी और संस्मरण के बीच कोई ट्रांस्जेंडर रचना रचते हैं तो इन प्रेतछायाओं से मुक्त नहीं हो पाते। उन्हीं की 'हंस' में प्रकाशित कहानी 'पांडे कौन कुमति तोहें लागी' जब लोटते-पलोटते 'काशी का अस्सी' तक के सफर में 'उपन्यास' बनकर आई तो अपने फिल्मी चाणक्य चंद्रप्रकाश द्विवेदी ने बनारस को खोजने के नाम पर फिल्म बना डाली जो अभी तक रिलीज ही नहीं हो पाई। जाने मणिकर्णिक घाट पर पड़ी है, हरिश्चंद्र घाट पर या मुंबई के किसी मुर्दाघर में....।

प्रख्यात और मेरे प्रिय कवि केदारनाथ सिंह से शायद काशी की पहचान कुछ साफ हो
 ...सीढ़ियों पर बैठे बंदरों की आंखों में
 एक अजीब-सी नमी है
 और एक अजीब-सी चमक से भर उठा है
 भिखारियों के कटोरों का निचाट खालीपन

इसी वजह रोज-रोज एक अनन्त शव
ले जाते हैं कंधे अंधेरी गली से
यह आधा जल में है, आधा मंत्र में
आधा फूल में है, आधा शव में
अगर ध्यान से देखो तो यह आधा है
और आधा नहीं है
किसी अलक्षित सूर्य को
देता हुआ अर्ध्र्य
शताब्दियों से इसी तरह
गंगा के जल में
अपनी एक टांग पर खड़ा है यह शहर
अपनी दूसरी टांग से
बिल्कुल बेखबर।

●
(लेखक सुप्रसिद्ध कथाकार हैं)

हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्वपूर्ण लिखा गया है उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनिया भर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसी वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियां और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक दस लाख से अधिक पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। पैंतीस सौ से अधिक पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, इंडोनेशिया, सऊदी अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन सहित और भी अनेक देशों के पाठक होते हैं।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय दो लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-से मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। हम हिंदी की कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर ले आने को प्रमुखता दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। समकालीन साहित्य के लिए हम पूरी तरह से लेखकों के सहयोग पर निर्भर करते हैं। दूसरी भारतीय भाषाओं तथा दुनिया भर की सभी महत्वपूर्ण भाषाओं का साहित्य भी हिंदी समय पर ले आने का प्रयास लगातार किया जा रहा है। लेखकों और अनुवादकों से सहमति के आधार पर उनकी रचनाएं भी हिंदी समय पर उपलब्ध कराई जा रही हैं। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को कई खंडों में बांटा गया है- उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, व्यंग्य, निबंध, बाल-साहित्य, विमर्श, लेखक के समग्र और संचयन, अनुवाद, कोश तथा विविध, जिसमें वैचारिकी, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, डायरी, लघुकथाएं तथा अन्य अनेक मूल्यवान सामग्रियां शामिल हैं। कोश के अंतर्गत वर्धा हिंदी शब्दकोश तथा समाज-विज्ञान विश्वकोश जैसे कई महत्वपूर्ण कोश हिंदी समय पर उपलब्ध हैं। एक खंड 'हिंदी लेखक' भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, तस्वीर, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध हैं। इस खंड का भी निरंतर विस्तार किया जा रहा है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेज कर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 071522230912 पर फोन करें या hindeesamay@gmail.com पर मेल करें।

लेखकों के पते

- शंभुनाथ- 389, जीटी रोड, हावड़ा-711106, मो.-9007757887
- रामशंकर द्विवेदी- 1260, रामनगर, पाठक का बगीचा, उरई-285001 (उ.प्र.)
- विजय बहादुर सिंह- 24 निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भोपाल-462003, (म.प्र.), मो. -9425030392
- कमलेश भट्ट कमल- सी-631, गौड़ होम्स, गोविंदपुरम, गाजियाबाद-201013 (उ.प्र.), मो.-9968296694
- प्रतुल जोशी- कार्यक्रम अधिशासी, आकाशवाणी, शिलांग, मो-9452739500
- राजेंद्र मुंटे- आर्वी नाका के पीछे, ज्ञानेश्वर नगर, वर्धा-442001 (महा.), मो.-9422140049
- के हरिहरन- निदेशक, एलवी प्रसाद फिल्म एवं टीवी अकादमी, चेन्नई (तमिलनाडु)
- जनार्दन- कनिष्ठ तकनीकी अधिकारी, हिंदी कक्ष, मुख्य भवन, तृतीय मंजिल, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मुंबई-400076, मो.- 828633404
- परिमल प्रियदर्शी- साहित्य विद्यापीठ, म.गां.अं.हिं.वि.वि, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महा.), मो.-8275749349
- शोभनाथ शुक्ल- संपादक, 'कथा समवेत', साक्षी विला, 1274/28 बढैयावीर सिविल लाइंस-2, सुल्तानपुर-228001 (उ.प्र.), मो.-9415136267
- हसन जमाल- संपादक 'शेष', पन्ना निवास, लोहारपुरा, जोधपुर-342001, मो.-9829314618
- दीपक मलिक- 39, रवींद्रपुरी लेन नं.-5, वाराणसी-201005, (उ.प्र.), मो.-9839096104
- सुधीर विद्यार्थी- 6 पवन विहार, पो. रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली-243006, (उ.प्र.), मो. -9760875491
- संजय कृष्ण : ध्रुव तिवारी का मकान, तपोवन गली, कोकर, रांची-834001
- विष्णुचंद्र शर्मा- ई-11, नागार्जुन नगर, सादतपुर, दिल्ली-110094, मो.-9810481433
- ए. अरविंदाक्षन- 279/7 सांद्रम, मावेलिपुरम, काक्कनाड़, कोचीन-682030, मो.-9895018088
- मजीद अहमद- द्वारा, प्रभात झा, के-34 सरिता विहार, नई दिल्ली-110076, मो.-9971425649
- भरत तिवारी- बी-71, शेख सराय, फेज-1, नई दिल्ली-110017, मो.-9811664796

- नरेंद्र जैन- 132, श्रीकृष्णा नगर, विदिशा-464001 (म.प्र.), मो.-9425079116
- जयनंदन- एसएफ 3/16, बाराद्वारी, सुपरवाइजर फ्लैट्स, साकची, जमशेदपुर-831001, मो.-9431328758
- सुवास कुमार- 38 शांतिनिकेतन, क्वाइट लैण्ड्स, इंदिरानगर, गच्ची बावली, हैदराबाद-500032, मो.-9490925866
- अरुण कुमार त्रिपाठी- डी-104, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.), मो.-9818801766
- संजीव, 43 ए, न्यू डीडीए जनता फ्लैट्स, चिल्ला मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091, मो.-8587832148

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
सदस्यता आवेदन-पत्र

बिक्री एवं प्रसार कार्यालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

बहुवचन का वार्षिक सदस्यता शुल्क : बैंक ड्राफ्ट से 200 रुपये/चैक से 225 रुपये

बहुवचन का द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क : बैंक ड्राफ्ट से 400 रुपये/चैक से 425 रुपये

Hindi Language Discourse : D.D. Annual Rs. 400/- by Cheque Rs 425/-

Writing Membership : D.D. Institutions Rs 600/- by Cheque Rs 625/-

पुस्तक-वार्ता का वार्षिक सदस्यता शुल्क : बैंक ड्राफ्ट से 120 रुपये/ चैक से 145 रुपये

पुस्तक-वार्ता का द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क : बैंक ड्राफ्ट से 240 रुपये/ चैक से 265 रुपये

(नोट: कृपया मनीऑर्डर नहीं भेजें।)

चैक/ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम पर बनाएँ और निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
गांधी हिल्स, डाक घर- हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

बहुवचन/पुस्तक-वार्ता/हिंदी लैंग्वेज डिस्कोर्स राइटिंग पत्रिका के अंकों के लिए रुपये.....का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ:-

नाम:-

पता:-

दूरभाष :- ईमेल:-.....

दिनांक:-

(सदस्य का नाम एवं हस्ताक्षर)